Durga Dutt Municipal Library
NAINI TAL
दुर्गादत्त म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल

Class No. 915.4
Book No. P821P
Reg. No. 5021

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—८४

# पार उतरि कहँ जइहौ

प्रभाकर द्विवेदी

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

•

प्रथम संस्करण
१९५८
मूल्य तीन रुपये

•

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

## चरण कँवल में

मन, तू पार उतरि कहँ जइहौ।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच मुकाम न पइहौ।

अवधके पूर्वी भागमें, गोंडा और बस्ती जिलोंमें एक नदी बहती है—मनोरामा या मनवर। यह यात्रा उसीके तटपर की गई थी। तभी यह लिखा भी था। कुछ सोचकर कहीं-कहीं नाम बदल दिये गये हैं। यात्रामें सब बातचीत अवधीमें हुई थी, मैंने यहाँ संवादोंका खड़ी बोली रूपान्तर दिया है। यदि कहीं शब्दों और वाक्योंका रूप अटपटा मालूम दे तो उसे अवधी और खड़ी बोलीके शब्दों और वाक्योंकी गठन शैलीका अन्तर समझना चाहिए। अवधीमें 'आप' नहीं होता इसीसे अपरिचितोंके लिए भी सम्बोधनमें 'तुम' ही मिलेगा। किसी घटना या पात्रको असामान्य और विलक्षण नहीं जानना चाहिए। जो कुछ भी सामान्य-असामान्य है, वह है यात्रा-स्थलकी संस्कृति, मेरी यात्राका अनुभव नहीं। यों लेखन मेरा छाता है जिसे मैंने 'विज्ञापन' से उधार लिया है।

# विज्ञापन

घामसे तप्त जेठकी दुपहरियामें, उस घने वटवृक्षकी छाँहमें जाकर मैं खड़ा हो गया और छाता खोलकर तान लिया।

नहीं, ऐसे नहीं—

आगे किसी ग्राम-कथाके लोकनायककी शैलीमें कहूँ—

बरगदके पेड़के नीचे चार मानुस खड़े थे। उनमेंसे एक बोला, "आओ भाई, छँहा लो।"

दूसरा बोला, "हे बिरादर, तुम कौन हो? कहाँसे आते हो और कहाँ को जाते हो? यह बात बताओ तो बड़ा अच्छा हो।"

मैंने कहा, "हे बिरादर, आदमी ही आदमीका साथी है। जो तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा! तो भाई, मैं राही हूँ। छोटी-सी, चार दिनकी ज़िन्दगानी में बड़े-बड़े पाप हो जाते हैं। ऐसेमें मनमें धरमकी बात आ जाय तो बड़ा भाग्य समझना चाहिए। तो हे बिरादर, मेरे मनमें तीरथ करनेकी इच्छा भगवान्‌ने उत्पन्न की है। बड़ी दूरसे आता हूँ। माता मनोरामा नदीके दरसन कर लिये। अब इनके तीर-तीर जाऊँगा, जहाँ तक ये जायँगी। धन्य भाग्य जो वहाँ तक पहुँच पाऊँ!"

तीसरा मानुसपूत बोला, "हे भाई, एक बात पूछूँ, बुरा तो न मानोगे?"

मैंने कहा, "बिलकुल नहीं, भाई। पूछो! तीन तिरबाचा ले लो चाहे तो।"

वह बोला, "भाई, मैंने देखा कि तुम जबतक घाममें रहे, छाता बन्द किये रहे। और पेड़की छाँहमें आते ही तुमने छाता तान लिया। तो भाई, इसमें क्या विद्या है? कृपाकर, खोलकर कहो।"

मैंने कहा, "हे बिरादर, सुनो। मैं छाता लगाये अपनी चाल चला आता था। तभी इधरसे चार जने कन्धेपर रामके प्यारेको उठाए हुए जा रहे थे। 'राम नाम सत्य है' उनके मुँहसे निकलता था। मैंने देखा तो लगा कि भाई ये सब बिपत्तिके मारे हैं। राही आदमी का उनसे क्या लेना! पर भाई, मैंने सोचा कि आदमीका काम धरमसे चलता है। दुःख दरदमें आदमी ही काम आता है, चाहे राही हो, चाहे गिरस्त। सो भाई, उन्हें देख मैंने छाता गिरा लिया। मरकर आदमी भगवान्‌में मिल जाता है। उनके आगे माथा झुकाकर ही चलना उचित है। जब वहाँसे आगे मैं बढ़ा तो, एक अहीर इधरसे भैंस-गोरूका रेवड़ लिये चला जाता था। उसे देख मैंने सोचा कि मेरा काले कपड़ेका छाता है। अभी इसे खोलूँगा तो कोई गाय बछिया चौंककर भागेगी। तब यह चरवाहा परेशान होगा—हलकान होगा। आदमीका धरम है कि किसीको दुःख न दे। अब जो मेरे छातेके खुलनेसे अहीरको कष्ट होता तो सारा पाप हमारे ही सिर आता। इससे, हे भाई, मैंने थोड़ी तकलीफ सह लेना ठीक समझा। और घाममें चला आया। पेड़के नीचे आकर मैंने छाता क्यों खोला अब इसका भी हाल सुन लो। बिरादर, गर्मीका दिन है। तपनसे दुःख पा पशु-प्रानी पेड़के नीचे आते हैं। चिरई चिरंगुन पत्तियोंके बीचमें बैठ

छँहाते हैं। फल-फूल खाते हैं और किलोल करते हैं। इनका संसार अलग है। चहचहाते है और विश्राम करते हैं। मन होता है तो बीट करते हैं। तो भाई, मैंने सोचा कि अबोध पंछी हैं। उन्हें क्या पता कि पेड़के नीचे कोई खड़ा है। मैंने छाता इसीसे तान लिया कि उनकी बीट ऊपर गिरकर कपड़ा-लत्ता न खराब कर दे। बिरादर, पता नहीं, मैंने अच्छा किया या बुरा किया। मैं तो अज्ञानी आदमी हूँ। आप सब चतुर सुजान हैं।"

●●

१

# पीठिका

*प्रिय आशा,*

तुम्हारा पत्र मिला। पत्रोत्तर सकारण देरसे दे रहा हूँ या दे पा रहा हूँ। दोनों परिस्थितियाँ स्पष्ट कर दूँगा।

तुम्हारी शिकायत ठीक ही है कि मैं बिना किसी पूर्व सूचनाके ही लखनऊसे यहाँ अपने गाँव भाग आया। 'भाग आया' पद बिलकुल ठीक है क्योंकि सचमुच मैंने किसी भी मित्रको अपने यहाँ आने के विषयमें नहीं बताया।

तुम्हारा यह ख्याल कि मैं यहाँ गर्मी की छुट्टी काटनेके इरादे से आया, शायद ठीक नहीं है। यहाँ कोई पर्वतीय उपत्यका भी तो नहीं है। जैसी गर्मी वहाँ लखनऊमें है, वैसी ही यहाँ भी। वहाँ तो शायद ज्यादा अच्छी तरह छुट्टियाँ कटतीं। कमरा बन्द करके चार मित्रों के साथ बैठ जाता। ताश खेलता या उठँङ कर गप्पें मारता। न होता तो सोता। शामको नहा-धोकर घूमने

निकल जाता। कभी सिनेमा देखता, कभी मित्रोंसे सिनेमाके ऊपर बातें करना। किसे नहीं वह सब अच्छा लगता! पर फिर भी मैं यहाँ चला आया।

तुम्हारे भतीजेके जन्म-दिन पर न आया, इसका एकमेव कारण यही है कि मनःस्थिति ऐसी न थी कि वहाँ आना अच्छा लगता। तुम मित्र हो, इससे बतानेमें संकोच नहीं है। साथ ही तुम इतनी समझदार भी हो कि उस मनःस्थितिको अनुभूत कर सको कि जिसमें पड़ कर हम एक किस्मकी छटपटाहट महसूस करते हैं। ऐसी दशामें तुमसे सत्य बताकर मैंने गलती नहीं की है। यों यह गलती तो है ही कि तुम्हारे निमन्त्रण के बावजूद मैं न आया। इसे अन्यथा न लेना।

उसी ऊबमें ही मैं घुट रहा था, इसीसे यहाँ भाग आया। ऐसी तो कोई बात नहीं है कि इस स्थान विशेष पर ऊब न लगती हो। पर घूम लेनेसे ऊब कम अवश्य हो जाती है। और अधिक घूमनेसे मनको शान्ति मिल जाती है। क्यों मिल जाती है यह शान्ति, यह बता पाना कठिन है। उसी तरहसे, जैसे यह बता पाना कठिन है कि ऊब कर मन घूमना ही क्यों चाहता है।

यह घूमना योजनाबद्ध रूपमें भी हो सकता है और बिखरे-बिखरे रूपोंमें भी। पर इतना तय है कि ऊबकी यह प्रवृत्ति बड़ी स्वतन्त्र वृत्तिकी होती है। जब इसे बाँध कर बड़े-बड़े भवन, ऐतिहासिक स्थल आदि दिखाये जाते हैं तो यह ऐंठ कर हटनेसे इनकार कर देती है। पर निरुद्देश्य, अलक्ष्य भटकानेमें इसे बड़ा

आनन्द आता है। और यही आनन्द ही इसके विनाशका भी कारण होता है।

और भला ऊब किसे अच्छी लगती है! इसीसे जाने कितनी बार इधर-उधर चलता रहा हूँ। अजाने, अनियोजित स्थलों तक चला गया हूँ घूमते ही घूमते; तब जाकर मन सुस्थ हो पाया है किसी तरहसे।

पता नहीं और लोग अपनी अकुलाहट कैसे दूर कर पाते हैं। शायद अपने-अपने चस्के होते होंगे। मेरा यह घूमनेवाला चस्का ही तो है कि यदि सारा जीवन ही, यों ही अलक्ष्य घूमने-फिरने में बीत जाय तो शायद मुझसे सुखी और कोई न हो—ऐसा सोचता हूँ।

व्यस्त जीवनका होना भी एक वरदान ही है। मन लगा रहता है, फँसा रहता है। ऊब भरे मनको एक आश्रय अभी घरमें मिला था कि एक विवाह पड़ा था। भीड़भाड़, शोर-सरापेमें मनको टिकनेकी एक थाह मिली थी। एक दिलासा मिल गई थी। सोचा था कि जितनी देरको ही इसमें फँस पाऊँ, अच्छा है।

पर चार दिनका रंग होता है, बाजे-तमाशेकी रौनक रहती है। उसके बाद वही अकेलापन रहता है। नहीं, कहूँ कि अकेलेपनकी ही तलाश रहती है। उत्सव के बाद मनमें जो अवसाद आता है, जो एक किस्मकी छटपटाहट होती है, उससे कैसे बचा जाय!

कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि मूढ़ होता तो अच्छा रहता। गुड़को मीठा और नमकको खारा समझ पाने भरकी ही इन्द्रिय-

शक्ति रहती। तब औरोंकी तरह यह कहकर पल्ला झाड़ देता कि 'डालडेकी पूरियोंने गला खराब कर दिया' या 'दुलहिन तो सुन्दर है।' यदि किसी तरहसे अपनेको इन सबमें लगा पाता तो मुझसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन होता! पर यह मनकी भागीरथी जाने किन कन्दराओंसे होकर बहना चाहती है। गंगाकी लहरें सीधी सरल गतिसे बहना नहीं जानतीं। मन उचाट हो होकर भागता है।

सम्बन्धियोंको, घर वालोंको मोटर बसमें चढ़ा-चढ़ाकर बिदा किया। व्यस्तताकी गति पैरोंको बसस्टॉप तक ले गई थी, लौटते समय उनमें जैसे शक्ति ही न रह गई हो।

इसी अकुलाहटमें ही दबा पड़ा हूँ। आज-कलमें ही घरसे निकल जाऊँगा। दस-पाँच दिन भटक आऊँगा तो तबियत बहल जायगी।

लौटकर आऊँगा तो तुम्हें पत्र लिखूँगा।

तुम सुखसे होगी।

*तुम्हारा*
**प्र० द्वि०**

यह पत्र लिखा अवश्य गया, पर भेजा न गया। जो भेजा गया, वह बहुत कुछ इस प्रकार था—

*आशा बहिनजी,*

नमस्ते। आपकी चिट्ठी मिली। मैं कुशलसे हूँ। आपकी कुशलता ईश्वरसे नेक मनाया करता हूँ।

इस बातका मुझे खेद है कि मैं आपके भतीजेके बर्थडे पर न आ पाया। पर बात यह है कि मेरे घरमें एक शादी पड़ गई, उसीकी व्यस्तता में यहाँ चला आना पड़ा। इसीसे न आ पाया। यों मेरी हार्दिक इच्छा थी कि उसमें आता। उस बच्चेको मेरा हार्दिक आशीर्वाद कहें। और मुझे मेरी अनुपस्थिति के लिए क्षमा करें।

शेष कुशल है।

वहाँ तो बड़ी गर्मी होती होगी। हमलोग तो पहाड़ जानेकी सोच रहे हैं। देखिए कहाँ जाते हैं।

और सब पास-पड़ोसके लोग राजी-खुशी होंगे।

घरमें सबको यथायोग्य प्रणाम आशीष कहें।

*आपका भाई*
**प्र० द्वि०**

*पुनश्च—*

पत्र जल्दी-जल्दीमें लिखा है, इससे गलतियोंके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।

यात्रा करने पर बड़ा सुख मिलता है। किन्तु जब घूमनेको नहीं मिलता है तब भी मन दिवास्वप्नों द्वारा अपनी कमी पूरी करना चाहता है। इन दिवास्वप्नोंमें नये-नये चित्र तो जुड़ते ही रहते हैं, पर कुछ हैं जो बार-बार दिखते हैं। जैसे एक है कि

मुझे बिलकुल काली रात दिखती है। ऊपर आकाशमें घने तारे झिलमिला रहे हैं और मैं एक लम्बे पेड़के नीचे लेटा हूँ। पेड़ लम्बा इसलिए है कि जिससे तारे दिखते रहें। कुछ दूरी पर ही एक नदी है जिसके किसी घुमावके पास स्थिर पानीमें तारोंका प्रतिविम्ब दिखता है। मैं जहाँ लेटा हूँ, उसके पाससे ही रेलवे-लाइन जाती है। मेरे चित्रमें एक तूफ़ान गाड़ीका आना भी होता है जिसके इंजिनकी चकमक करती तीव्र रोशनी मिनट भरके लिए अपना खेल दिखा जाती है कि बारी-बारीसे मेरे निकटकी सभी वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं। पेड़, खेत, घास, मेंड़, ताल और नदीका पानी।

तूफ़ान गाड़ी बहुत तेज आती है और निकल जाती है। पीछे उसकी झक-झका-झक सुनाई पड़ती रहती है। कभी-कभी तूफ़ान गाड़ीके स्थान पर कोई लम्बी मालगाड़ी भी दिखती है जो बहुत धीमे-धीमे जाती है। उस गाड़ीमें बीच-बीचमें सवारियोंके बैठने लायक डिब्बे भी हैं जिनमें बैठा कोई नहीं है।

इसी तरहके दिवास्वप्नोंमें, गर्मीकी छुट्टीमें पड़ा था। घरमें एक विवाह होके चुका था। उत्सवके बाद जो अवसाद आता है, जो एक किस्मकी छटपटाहट होती है, उसीके नीचे दबा था। एक दिन शामको मन हुआ कि पासके गाँव कुसुमौर चलकर खेदू भगतसे निर्गुन पद सुने जायँ। मनमें जब तनिक भी ऊब होती है तो इन निर्गुन पदोंको सुनकर बड़ी शान्ति मिलती है। जाने कितनी बार उन्हें सुना है। सुन-सुनकर रुलाई भी आने लगती है। पर अबोध शिशु मन बार-बार रो देना चाहता है—

तलफै बिनु बालम मोर जिया

ट्यूबवेलकी नालीके एक मील लम्बे मार्गके किनारे बनी पग-डण्डी पर, सामनेकी सीधी लम्बाईको दृष्टि और पगोंसे नापता हुआ पहुँचा गाँव कुसुमौर।

आजकलके नित नये सभ्य तरीकेसे कटते-छँटते, सजते-सँवरते हुए गाँवोंको देखकर मन संकुचित हो उठता है। कुसुमौर अभी बचा है। चारों ओरसे बँसवट और महुआ-सिंघोरके पेड़ोंसे घिरे अँधेरे ग्राममें अब भी उदास-मन-बसे वनदेवताको प्रणाम करनेकी कामना जाग आती है। अब भी वहाँ साँझके समय खपरैलोंके ऊपरसे उठकर घुमरते हुए, नाचते हुए धूमअग्नोंको देख नगरोंकी जनबहुलता बिसर जाती है। सूने पलोंमें बैठकर, जलमुर्गी की कूSSS अथवा पँड़खी की कूज अब भी मनकी आदिम वन्य वासनाको कुछ तुष्टि दे ही जाती है।

जब खेदू भगतके घरके सामने पड़ी खाटको खींचकर बैठ गया तो यह न ज्ञात था कि अभी सूचना मिलेगी कि वे बैलगाड़ी लेकर साखूके दो पेड़ लाद लाने गये हैं। पता चला कि वे मस-किनवा स्टेशनके पासके अलेनपुरके जंगलमें गये हैं। कल गये हैं और दो दिनमें लौटेंगे।

'कल गये हैं' सुनकर पछतावा हुआ कि कल ही क्यों न आया? मसकिनवाके पासके साखूके वनखण्ड। बीचसे बहती हुई मनोरामा नदी। एकान्त और हरा-भरा अरण्य-प्रदेश। नदी माँ का हरा-हरा पानी। उनकी साँपके बलोंकी-सी चाल। गहन सूना-

पन और निर्जन स्तब्धता। मन ललच उठा। कल ही आता तो मैं भी उनके साथ बैलगाड़ी पर चला चलता।

जब-जब लखनऊसे छोटी लाइन पर इधर आया हूँ, आँखें मनिकापुर स्टेशन खोजती हारी हैं। पार होता है वह स्टेशन भी और तब शुरू होती है वह वनमाला—साखूके पेड़ोंकी घनी पंक्तियाँ। 'पंक्तियाँ' कहनेकी इच्छा नहीं होती। पंक्ति सभ्यताका पहिरावा है। वहाँ साखूके पेड़ उगे हैं अपनी सहज परिवारबद्धता के साथ।

मनोरामाके ऊपरका छोटा-सा रेलवे पुल। नीचेसे बहता हरा जल! ट्रेनकी खिड़कीसे झाँकती आँखोंको दिखती है श्यामल हरे रंगके सूतकी एक रेखा जो गहरे हरे रंगकी अपार राशिमें खो जाती है। लोहेकी पटरियों पर पहिये भागते रहते हैं और दृष्टिके सम्मुख आती हैं बगिया, परती, हरी खेती, पकी खेती। तरह-तरहके खेत, फूसके झोपड़े और मिट्टीके घरौंदे।

जाने दो। ट्रेनमें गति है। गति बाँधती है देशको, सीमाओं-को। गति बल देती है मनको। मन उड़ता है कल्पनाके पाँखों पर। जाने दो, कल्पना झुठलाती है। पर वह जो अभी-अभी सत्य था, वह भी खींचता है—वह आरण्यक धरती। वह नदी। उसका हरा पानी।

पानीके प्रति आकर्षण सुदूर बचपनसे रहा है। बचपनकी इच्छाएँ, वासनाएँ बदलीं, पर पानीके प्रति बसे इस आकर्षणमें आज तक कोई कमी होती नहीं प्रतीत हुई। जाने क्या है जो मनमें इस पानी नामके पदार्थके लिए ललचाता है। पानी भी जितनी अधिक

मात्रामें दिखता है, व्यक्तित्वका जितना विशाल होता है, उतना ही अधिक खींचता है। बचपनमें, बरसातमें सड़क पानीसे भर जाती थी और उसमें झिम-झिम फुकारें गिरती रहती थीं तो खिड़कीसे यह देखा करता था। वर्षाके समाप्त होते ही बाहर निकल आता और भागते हुए पानीमें, पानीका पीछा करता। देहातमें खेत सींचने के लिए बनाए गए बरहेमें जब भागता हुआ पानी दिखता तो किसी फेनके पीछे पड़ जाता और उसके साथ-साथ दौड़ लगाता। कापी-इंग पेंसिलकी लेडको बरहेमें दो मिनटके लिए छोड़ देता और जब बैंगनी रंगके छोटे-छोटे बादल जैसे कुटिल गोल छल्ले, जैसे कि फाउंटेनपेनकी हवा पानीमें निकालने पर बन जाते हैं; पानीमें डूबते उतराते, घुलते निखरते हुए भागते तो ताली बजाता हुआ उनके साथ-साथ भागता था।

बचपनके उस आकर्षणने कितनी ही नदियों नालोंके किनारे-किनारे भटकाया है। पानीका विशाल जलखण्ड एक साथ एक ही ओर भागता है। कितना आश्चर्यजनक है यह सब। जाने कब इन नदियोंका निर्माण अकस्मात् ही हो गया रहा होगा। विज्ञानवाले जाने क्या कहते हैं, पर मन कहता है कि कहीं एक सोता खुल गया होगा और फिर उसका पानी तेजीसे भागा होगा किसी ओर। कैसा रहा होगा वह दृश्य! जिधर मन चाहता है उधर भागता हुआ पानी। और उस पानीकी उम्र बढ़ती गई होगी—उसका विकास बढ़ता गया होगा। नाली, नाला, नदी, नद। गतिका मूर्त्तिमान स्वरूप।

इस दृश्यकी कल्पनाको देखनेके लिए बचपनमें जाने कितनी

बार कहीं पर पानी गिरा दिया है और फिर पानीको अपना रास्ता बनाते हुए देखा है। कभी-कभी किसी शाखाको मदद भी पहुँचाई थी कि अँगुलीसे खींचकर उसका मार्ग निर्धारण कर दिया था।

नानीके यहाँ खपरैलसे पानी चूता था। जिस जगह पानीकी धार गिरती थी, छोटा-सा गड्ढा हो जाता था। उसीमें कटोरी भर पानी इकट्ठा हो जाता था। पानी बढ़ते ही इधर-उधरसे बाहर जानेकी कोशिश करता। तब अँगुलीसे खींच-खींचकर पानीको रास्ता बताता और देखता कि कितनी तेजीसे पानी जाता है।

तब भगवानके जिस रूपकी कल्पना की थी, उसके आधारपर सोचता कि भगवान कुल्ला करते हैं तो पानी बरसता है और मेरे जैसा ही खेल करके उन्होंने नदियाँ निकाली होंगी।

वे दिन गये। भगवान परसे विश्वास हटा, बना, बिगड़ा, फिर बना—यों ही लगा रहा। पर उनकी लीलाओंका यह रूप नहीं भूलता है। कभी हवाई जहाज़ पर नहीं चढ़ा। पर बार-बार दृष्टिके सम्मुख चित्र बनता रहा है कि जैसे पृथ्वीका बहुत बड़ा प्रान्तर मेरे सामने विस्तृत है और उसपर कई-कई नदियाँ इधर-उधर लिपटी पड़ी हैं, भागती हैं—भागता है उनका पानी। धरती कहीं बालुकामय है, कहीं हरीभरी-शस्यश्यामला। उन्हींके ऊपरसे इधर-उधर घूमती टहलती वक्रगतिमें भागती हैं नदियाँ—भागती है जलराशि। कितना भव्य चित्र है। किसी अत्यन्त सुन्दर कृतिको पढ़कर, या बहुत ही अच्छे चित्रको देखकर मन जिस परमप्रमोदकी भावधारामें रससिक्त हो जाता है, भाव विह्वल हो जाता है—ठीक वैसी ही दशा उस भव्य चित्रकी कल्पनासे हो जाती है। जैसे

वर्षाधुले आकाशमें सूर्यास्तके समय, गुलाबी, इँगुरी, उजले, नीले बादलोंके विचित्र रंगोंको देखकर, उस वेलाकी पवित्रताके सम्मुख, मन नमित हो-हो जाता है या शामके समय कहीं एकान्तमें चर्चके घण्टे सुनकर जिस अनुभूतिमें मन बह जाता है, ठीक वैसी ही दशा मनकी हो जाती है।

पानीका रूप देखा है छोटे-छोटे ताल, पोखर, गढ़े-गड़हियोंमें, सरयू, रासी, कुआनव, गंगा, जमुना, तमसा आदिकी मैदानी गतियोंमें, बदरीनाथकी अलकनन्दा, सरस्वतीकी हहर-हहर ध्वनियोंमें और बंगालकी खाड़ीकी विस्तृत राशिमें। बहुत देखा, फिर भी कुछ नहीं देखा। मनकी वासना तुष्ट होना नहीं जानती। वह दौड़ती रहती है यहाँ वहाँ। विकल मन पानी का ही दर्शन करता रहना चाहता है।

वहाँ खेदू भगतके घरके सामने अकस्मात् ही मनके सामने एक तारा टूटा। तारा टूटता है तो प्रकाशकी तीक्ष्ण सीधी रेखा बनाता जाता है। सीधी रेखा दो विन्दुओंको मिलाती है। वे दो विन्दु खेदू भगतका घर और मसकिनवाके पासके वनखण्ड ही क्यों न हों?

और जब घड़ी रात बीते कुसुमौरसे लौटा तो तारोंकी छाँहमें, अँधेरे ग्राम पथपर मनने योजना बाँधी कि ये जो युगोंसे नदी माँ पिछवारेके गाँवोंसे—हरैया, कसैला, उभाँई, पेना, पंडुरवाकी तलहटीको पखारती हुई बहती आई हैं, उनके आँचलकी गरिमा मैं भी देख लूँ।

उस समय मैं कोरी भावुकतामें ही नहीं बह गया था कि मनोरामा नदीके आदिसे अन्ततक चक्कर काटूँ। मैं यह समझता था कि गर्मीके दिन हैं, नदीका पानी काफी कम हो गया होगा। फिर जो चीज़ नदीके किनारे एक दिन देखूँगा वही प्रतिदिन मेरे सम्मुख आएगी। वही पानी, वही रेत, वही हरेरी।

पर मेरा मन केवल नदीके प्रति एकनिष्ठ बना रहेगा—ऐसा भ्रम भी नहीं था। नदी किनारे पेड़-पालव, पशु-प्रानी, गाँव-गिराँव भी तो होते हैं। और ये सब एकसे होते हुए भी एकसे नहीं होते हैं। हर एकका अपना अलग संसार होता है। सबमें तरह-तरहका वैविध्य होता है। मैं वह भी तो देखूँगा। मैं इतना एकान्तप्रिय तो नहीं हूँ कि आदमियोंसे भागूँ। बल्कि शायद इसका विपरीत ही है। तो फिर जहाँ मनुष्य हैं, मानव जीवन है, वहाँ देखनेके लिए कमी ही किस चीज़की है।

*श्रीमान् पिताजी,*

सादर प्रणाम

मैं कुशलसे हूँ, आपकी कुशलता ईश्वरसे मनाया करता हूँ।

कल मैं अपनी थीसिसके लिए, अवधीके व्याकरणके लिए भाषा सम्बन्धी कुछ नोट्स लेनेके लिए, गोंडाकी ओर जा रहा हूँ। बोली परिवर्तनके निमित्त कुछ दिन पैदल चक्कर काटना पड़ेगा। आठ-दस दिन लग जायँगे। तब ही लौटूँगा।

**आपका**

पुत्र

●●

# प्रारम्भिकी

योजनाओंके विषयमें मित्रों परिचितोंको बतानेसे यह लाभ
हता है कि तरह-तरहकी रायें मिलती हैं जिनसे संशोधन होते
हते हैं। किन्तु इसके साथ ही यह भी होता है कि अधिक
हणात्मक संशोधन योजना का बंटाधार भी कर देते हैं। इसीसे
पनी यात्राके विषयमें किसीको नहीं बताया। लोग सुन-सुनकर
ात्राके बारेमें—यात्रीके बारेमें चिन्ता प्रकट करेंगे जिससे मेरे पास
ो चिन्ता करनेका कुछ भार बढ़ जायगा, यह सोच चुप रहा।
भी-कभी यात्रामें साथीकी अपेक्षा भी रहती है। किन्तु अतीत
ात्राओंमें सदा सर्वदा ही यह देखा है कि पहले तो बहुतसे लोग
ात्राके सहगामी होनेकी उत्सुकता प्रकट करते हैं पर ऐन मौकेपर
सीका पता नहीं चलता और यदि कोई साथ चलता भी है तो
छ ही दिनोंमें स्वयं भी ऊब जाता है और साथ वालेको भी उबा
ता है।

इसीसे एक दिन सबेरे चुपचाप घरसे निकल लिया। ननिहाल जानेका बहाना रहा। खेत सिवान पार किये। मछोई नदी गई। धन्सीपुरकी बगिया और महराजगंजकी बाजार पार करके सड़क परके बसस्टॉप पर आ रुका। बाजारका दिन नहीं था। लेकिन जाने कहाँ-कहाँसे हितैषी शुभैषी आ जुटे थे। कहीं जानेवालेको टोकना अच्छा नहीं समझा जाता, इससे सीधे-सीधे किसीसे न पूछा गया कि—कहाँ तक ? परन्तु वाक्यका एक व्यंग्यार्थ भी होता है। मुझसे प्रश्न किये गये—

"कब तक लौटना होगा ?"

"कहीं बरातमें जा रहे हैं क्या ?"

"ननिहालकी ओर ?"

झूठ बोलनेसे परहेज नहीं है। लेकिन अनिच्छासे उत्तर देनेमें परहेज है। इससे जान छुड़ानेके लिए गन्तव्यकी दिशामें पैदल ही चला कि अगले स्टॉप पर बस ले ली जायगी। यों भी बस आनेमें अभी देरी थी ही। तबतक वहाँ पहुँचा जा सकता था।

सड़कों पर पैदल चलनेका एक अलग ही आनन्द होता है। दोनों ओर आम, जामुन, शीशम आदिके वृक्षोंकी पंक्ति सीधी चली जाती है। बीचमें से भागती हुई सड़क। किसी कविको लगेगा कि वर्षोंके मापदण्डोंके बीचसे जिन्दगी भागी जा रही है। पगडण्डी पर चलते हैं तो मनमें एक प्रकारका गर्व-सा आ समाता है कि इस सारे रास्तेके मालिक एकमेव हम ही हैं। पर सड़क पर चलनेमें कुछ-कुछ अपनी क्षुद्रताका भान होता रहता है। पगडण्डी पर अपना आत्मविश्वास साथ देता है। लगता है कि जैसे बार-बार

रास्ता खो जाता है और हम उसे ढूँढ़ निकालते हैं। पर सड़क पर हम कुछ-कुछ परविश्वासाश्रित हो जाते हैं। कुछ वैसा ही अन्तर होता है कि जैसे किसी नये लेखकको किसी छोटी जगहमें रहकर छोटे-छोटे लेखकोंके बीचमें रहते हुए अपने आपही लिखना सीखना पड़े। यह पगडण्डीका मार्ग हुआ। और सड़कका मार्ग ऐसा कि उसी लेखकको किसी साहित्यिक केन्द्रमें अच्छे-अच्छे लेखकोंके बहस मुबाहसोंके मध्य रहनेका सुयोग मिले।

सामनेकी ओर दूर तक सड़क दिखती है। कहीं उसका अन्त नहीं। जैसे लक्ष्य ही नहीं पता चलता और यह जैसे मनको बार-बार बुलाता है—आगे और आगे। सड़कके किनारे फर्लांग और मीलके पत्थर गड़े हैं। इससे तेज चलनेमें मदद मिलती है। एक फर्लांग निकल जाता है तो होता है कि लपककर आगेवाले पत्थर तक हो लो। आगे जाने पर और आगेवालेके लिए मन अह-कता है।

'संझा का पुरवा' निकल गया।

रजौली ग्रामके समीप सड़क पर एक ट्रक खड़ी थी। पीछेकी ओर लिखा था—'कृपया ध्वनि कीजिए', 'फिर मिलेंगे'। आगेकी ओर ड्राइवरकी सीटके पास तीन-चार चोटियाँ लटक रही थीं। उनके पास ही गुरु गोविन्दसिंहकी तसवीर चिपकी थी। सिख ड्राइवर ट्रकके इञ्जिनमें कुछ ताक-झाँक कर रहा था। पासमें ही एक भला आदमी खड़ा था। उससे मैंने पूछा, "कहाँ जाओगे भइया ?"

"लकड़मंडी।"

"यह ट्रक ले जायगी ?"

"पूछिए।"

कंडक्टर भी कुछ काममें लगा था। ट्रकके ये बादशाह और वजीर-ए-आजम जनतासे जरा कम ही बोलते हैं, खासकर जब किसी काममें गिरफ्त हों। इससे आगे बढ़कर मैंने पूछा नहीं। इसी आदमीसे पूछा, "लकड़मंडीसे आगे कहाँ जाओगे ?"

"गोंड़ा।"

"चलो अच्छा है। मुझे भी वहीं चलना है।"

कंडक्टर खाली हो गया था। आगे बढ़कर मैंने पूछा, "लकड़मंडी तक ले जानेकी गुंजाइश है, भाई ?"

उसने घूर कर देखा फिर कहा, "दोनों जने ? बीस-बीस आने पड़ेंगे।"

मैंने सहमतिके लिए भले आदमीकी ओर देखा। उसने सिर हिलाया कि नहीं। मैंने उसके पास हो धीरेसे पूछा, "क्यों क्या हर्ज है ? बस भी तो सत्रह-अठारह आने लेती है।"

"इससे जानेसे फायदा क्या ? गोंड़ाके लिए न तो रेलगाड़ी ही अभी मिलेगी न बस ही। वहीं लकड़मंडीमें पड़ा रहना पड़ेगा। इससे अच्छा तो यह है कि हर्रैया तक पैदल चलकर बससे चौदह आनेमें चला जाय। उसके टाइमसे गोंड़ाके लिए सवारी मिल जायगी।"

बात समझमें आई। पाससे ही ट्यूबवेलकी नाली बह रही थी। हाथ-पैर धोनेके इरादेसे वहाँ चला गया। धोकर तौलियेसे पोंछ ही रहा था कि ट्रक स्टार्ट होनेकी आवाज़ आई। देखा तो

ट्रक चल दी थी और वह भला आदमी लपक कर चढ़ रहा था। ट्रक तेजीसे चल दी थी और मैं खड़ा ताकता रहा। उस भले आदमीपर बड़ा क्रोध आया। मुझे तो मना किया और स्वयं चल दिया। पता नहीं इसमें उसे क्या मजा मिला। मेरे कारणसे उसे ट्रकमें जगह मिलनेमें भी दिक्कत न होती। फिर उसने ऐसा क्यों किया? परसन्तापी आदमी! इच्छा हुई कि किसी तरहसे उसे पा जाऊँ तो अच्छी खासी मरम्मत करूँ।

क्रोधमें ही आगे बढ़ा।

पीछेसे एक ट्रककी आवाज़ सुनाई पड़ी तो घूमकर देखा। रुक गया और हिम्मत कर हाथ दिखाया। ट्रक रुक गई। पता चला कि छावनी तक ही जायगी। आगेकी ओर जगहें भरी थीं। पीछे ईंटें लदी थीं। मेरे ही जैसे कई आदमी ईंटोंपर बैठे थे। मैंने कंडक्टरसे कहा, "यह जो आगे-आगे ट्रक जा रही है, कोशिश करके इसके बिलकुल पीछे कर लो तो बड़ा अच्छा हो।"

उसने पता नहीं क्यों मुझे बड़ी सन्देहकी दृष्टिसे देखा और फिर ड्राइवरकी ओर देखा। ड्राइवरने मुझे देखते हुए मुझसे कहा, "सी० आई० डी० के आदमी हैं?"

"नहीं भाई, बिलकुल नहीं।"

आधे मिनट तक ड्राइवर मुझे घूरता रहा फिर बोला, "अच्छा बैठिए।"

पीछेसे चढ़कर ईंटोंपर बैठ गया। सब सहयात्री युवक ही थे। दो किसान थे और दो लड़के विद्यार्थी थे—प्रयाग विश्वविद्यालयके

छात्र। हम लोग ट्रकसे ऊँचे पड़ते थे। एक किसान चिल्लाया—"डाली आती है।"

सामनेकी ओर आमकी एक डाल झुकी थी। शीघ्रतासे हम सब ईंटों पर सपाट हो गये। डाली निकल गई तो फिर ठीकसे बैठ गये। आगेसे जब डाली दिखती तो हम सब एक साथ बोलते, "डाली आती है।"

हम सब एक ही उम्रके—एक ही तरंगके थे। उम्र ऐसी कि कोई चीज़—नीम जैसी तीती भी, कड़ुई न लगे। हर चीज़से रस बहता मालूम दे। शीघ्र ही हम लोगोंमें ऐसा हो गया कि जैसे ही कोई डाली झुकी दिखाई पड़ती सब एक स्वरसे अलाप लगाते—"डाली···डाऽऽली ईऽऽऽ···डाऽऽऽली ईऽऽऽऽऽ···डाली डाली डाली डाली···"

फिर सब एक साथ वर्जिश करते—लेटते और फिर उठते। इसी सबकी खुशीमें 'उस भले आदमी' को क्षमा कर दिया।

इसी तरह करते-करते कब छावनी आ गया, पता ही न चला। हम लोगोंमेंसे दो जने लकड़मंडी चलनेवाले थे। हम लोग बसकी प्रतीक्षामें बैठे। बस आई, पर उसमें जगह न मिली।

एक पानवालेसे पूछा कि दूसरी बस कब आयेगी? उसका उत्तर सुननेके पूर्व ही उसके दर्पणपर ध्यान चला गया। उसमें दिखते प्रतिबिम्बकी यदि फोटो खींची जा सकती तो उस फोटो को अपने चेहरेपर बाँधकर किसी भी सर्कसका जोकर दर्शकोंमें हास्यरसकी सृष्टि कर सकता था। मन ही मन उसे प्रणाम किया और सोचा कि इसे किसी अत्यन्त मिलनसार मिनिस्टरके बैठकमें टँगवा देना चाहिए।

दर्पणसे ही अपनी बढ़ी हुई दाढ़ीकी सूचना पाई। यों भी नाऊ देखकर हजामत बढ़ जाती है। बसमें देरी थी, इससे बैठ गया नाऊके आगे। वह बम्बई पलट था। साबुन और ब्रश भी रखे था। उसने बड़े प्रेमसे साबुन लगाया यानी बहुत देर तक लगाया। एक तरफकी ही दाढ़ी बनाई थी कि तभी हल्ला हुआ कि बस आती है। बस आकर रुकी कि मेरे प्राण टँग गये। दौड़ कर पहुँचा। बिलकुल खाली थी। कोई स्पेशल थी। उसमें सवारी बैठाना गैरकानूनी था। कंडक्टर चिल्लाया, "जिसे चलना हो, तुरन्त बैठे। रुकनेका टाइम नहीं है।"

दौड़कर छाता-झोला उठा लाया। नाऊ चिल्लाया—"पैसे बाबूजी ?"

"जेबमें हाथ डाला। इकन्नी मिली। चलती बसमेंसे फेंक दी।

कंडक्टर जवान था। मेरी आधी बनी दाढ़ी देखकर हँसने लगा। हँसनेसे अपनापा मिला। अपनापेके बलपर कहा, "तुमने ही जल्दी मचाकर मेरी दाढ़ी नहीं बनने दी।"

वह फिर ठठाकर हँसा और बोला, "ससुराल तो नहीं जा रहे हो ?"

"न ससुर हैं न ससुरकी बेटी। ससुराल कहाँसे हो ?"

"तब कोई बात नहीं। शादी हुई होती तो दाढ़ी बननी जरूरी थी। अब क्या फिकर ?"

"बीवी होती तो दाढ़ी बनती न बनती, क्या फर्क पड़ता है। कुँआरा छँड़ुआ हूँ, इसीसे तो चिकना होकर रहना है कि कोई गोरी-साँवरी देखे तो कमसे कम।"

वह फिर हँसा और अपनी सरकारी बुशर्टकी बड़ी जेबमें हाथ डालकर सेफ्टीरेज़र निकालता हुआ बोला, "लो भाई खुड़च लो नहीं तो शाप दोगे। कुँआरे आदमीका शाप, कहीं लग ही जाय हमारे जैसे बाल-बच्चेदार आदमीको।"

वह जितना निस्संकोच निकला, मैं भी उतना ही। उसे लेकर रख लिया कि कहीं बस रुके तो लोटेमें पानी ले आऊँ तब दाढ़ी बने। इन लोगोंकी चलती-फिरती गृहस्थीसे एक काम तो बना!

खाली बसमें बैठनेमें बड़ा आनन्द आया। पूरीकी पूरी सीट खाली थी, चाहे जैसे बैठे। खिड़कीसे ठण्डी-ठण्डी हवा आ रही थी जो जेठकी दुपहरियाके लिए दुर्लभ ही थी। पता नहीं कैसे अभी तक हवा तपी नहीं थी।

खिड़कीमें से बाहरके भागते हुए पेड़ और खेत सिवान मनोमुग्धकारी थे। सामनेकी ओर देखने पर ड्राइवरके आगेके शीशेमें से सामने की सड़क का अपनी ओर भागती आना चिरपरिचित था। टकटकी लगाकर सड़कको देखते रहने पर जो चित्र बनता था, उसमें गति लुप्त हो जाती थी। झटकेके साथ देखनेपर सड़कका भागना स्पष्ट पता चलता था। किन्तु स्थिर दृष्टि सड़कको भी स्थिर कर देती थी। जैसे चुपचाप पड़ी हुई हो। जैसे बस चल ही न रही हो।

एकाएक ड्राइवर बोला, "टी. एम.! टी. एम. साहब!"

कंडक्टर हमलोगोंकी ओर मुखातिब हो बोला, "आपलोग लेट जाइए। तुरन्त, जल्दी।"

हमलोग सीटोंपर फ्लैट हो गये। दो मिनट बाद कंडक्टरके

हुकुमसे हमलोग उठकर बैठे। वह बोला, "भाई, टी. एम. और ए. टी. ओ. लोगोंका दौरा बराबर हो रहा है। सामनेसे जब भी रोडवेज़की टैक्सी या बस आती दिखेगी, आपलोग लेट जाइएगा। नहीं तो चेकिंगमें हमलोग फँस जायँगे। यों खाली बस देखकर चेकिंगके लिए कोई रोकेगा ही नहीं।"

बात समझमें आई।

बिक्रमजोतमें उतरकर पानी ले आया। ड्राइवर पान खाने गया और मैं उसकी सीटपर बैठकर उसके सामने लगे शीशेमें देख-देखकर दाढ़ी बनाने लगा। जरा ही बनी थी कि वह आ गया और हल्ला करने लगा। मैं उसकी बगलकी सीटपर हो गया और चलती बसमें छील-छाल करने लगा। कई जगह जख्मी होकर मुँह धोया और पीछे अपनी बर्थपर आ लेटा।

यह एक खास बात है कि जितनी ही तेज सवारी होती है, विचार भी उतनी ही तेजीसे आते हैं। कोठरीमें बैठकर, मेजपर कोहनी, हथेली गालपर टिका, प्रयत्नकर भी आज तक कुछ न सोच पाया! पर पैदल चलकर या सवारीपर बैठकर बहुत कुछ अपने आप सोच डाला है। मोटर या रेल में तो सदैव ही इतनी तेजीसे कहानियोंके प्लॉट, असम्बद्ध घटनाओंको जोड़नेवाली कड़ियाँ और कविता की पंक्तियाँ दिमागमें आती हैं कि आश्चर्य होता है। मन कहता है कि सदैव रेलपर ही चलते रहो।

इसके अतिरिक्त चलते समय यह भी देखा है कि मूड बड़ी जल्दी अच्छा हो जाता है। घरसे चलनेके पूर्व जो ऊब-सी लगी हुई थी, वह प्रस्थानके समय ही जैसे साथ छोड़ने लग गई थी

और अब तो तबियत ऐसी हो गई थी कि हर चीज़में बड़ी रुचिके साथ प्रवेश लेने लगा था।

खिड़कीमें से जब झाँकते रहो, तब तो बाहरके दृश्य दिखते हैं और कहानियोंकी थीम सुगठित होती हैं। पर जब चुपचाप लेटे रहो और खड़बड़-खड़बड़ सवारी चलती रहे, शरीर इधर-उधर रद्दी झूलेके समान हिलता-डुलता रहे, आँखें मुँद जाया करें या मूँद लेनेकी इच्छा हुआ करे, तो, विचित्र-विचित्र दिवास्वप्न दिखते हैं—

पहिले—कैशोरावस्थामें दिवास्वप्नोंमें घूम-फिरकर, एक ही बात होती थी। किसी सुदूर परिचिता लड़कीसे अकस्मात् भेंट। प्रायः नाटकीय ढंग से। और फिर बातचीत—केवल बातचीत। और उस बातचीतमें सहज ही एक रोमांटिक वातावरणकी सृष्टि। किसी गर्म मादक वातावरणका दृश्य नहीं। बल्कि शरच्चन्द्रवाला अशरीरी, व्याज शैलीका रोमांस कि जिसमें नायक-नायिका यह महसूस ही नहीं कर पाते कि वे आपसमें एक दूसरेको प्रेम भी करते हैं।

पर अब वैसी खूबसूरत मुलाकातें नहीं हो पाती हैं। अब तो, रहता है रहता है, अचानक ही कोई तस्वीर दिमागके सामने बन जाती है। साफ स्पष्ट तसवीर नहीं। धुँधला-धुँधला, खोया-खोया-सा चित्र, जिसका फ्रेम नहीं होता, जिसकी सीमा नहीं होती। दृष्टिके सामनेके सारे अदृश्य पटलपर वही चित्र होता है।

कलकत्तेमें था तो लगभग दो महीने तक लगातार, जब रातमें बिस्तरपर लेटता था तो प्रतिदिन एक ही चित्र बन जाता था।

एक हरी खाकी रंगकी गहरी घाटी दिखती थी जिसमें पृष्ठमें रंग गहरा होता जाता था। सामनेकी ओर धानके खेतसे दिखते थे जिनके बीचमें बहुत पतली मेंड़ होती थी। उस मेंड़ पर एक लड़की—दस ग्यारह सालकी, भागती आती हुई दिखती थी। लड़की स्वस्थ थी। नीली फ्रॉक पहने। पैरोंमें जूते मोजे। पतली मेंड़ परसे गिर न पड़े, इसलिए वह दोनों हाथोंसे बैलेंस बराबर करती हुई आती थी। धानके पौदे छोटे-छोटे थे, और खेतोंमें कुछ पानी था, ऐसा लगता था। उनके बीचसे, दोनों हाथ उठाकर फैलाये हुए, आती हुई वह दिखती थी। लगता था कि वह बढ़ी आ रही है, पर चित्रके विस्तारमें वह सदैव ही एक ही विन्दु पर दिखती थी। चलते-चलते कभी मेरे समीप तक आ गई हो, ऐसा नहीं।

पर्वत बहुत देखे किन्तु वैसी घाटी कहीं देखी हो, ऐसा बिलकुल ध्यान नहीं पड़ता। वह लड़की कौन है, पता ही नहीं चलता। पूरा चित्र सम्पूर्णतया अपरिचित था। पर प्रतिदिन यह दिखता था, कम-से-कम आधे घण्टेके लिए।

बसमें जब लेटा था तो अचानक ही दृष्टिके सामने एक चित्र कौंध-सा गया। एक बँसवार है। उसकी एक टहनी बाहरको निकली हुई है। उसी पर एक छोटी-सी फुरगुद्दी चिड़िया बैठी है। बार-बार अपनी पूँछ उठा गिरा रही है। बस यही इतना चित्र, और कुछ नहीं।

इस प्रकारके चित्र धीरे-धीरे नहीं बनते। अकस्मात् ही सम्पूर्ण आ जाते हैं और ऐसा नहीं कि इसके कारणसे सामनेकी चीज़ोंको देखनेमें कोई व्याघात पड़ता हो। जो सामने है, सो तो है ही।

पर यह चित्र अलग ही बना रहता है। डबल एक्सपोज़र जैसा भी नहीं। साफ़ अलग-अलग।

ये सब मनकी लीलाएँ हैं। आश्चर्य भी होता है, भय भी लगता है, मनके लिए श्रद्धा भी जागती है। पर कुतूहल नहीं होता। कारण जाननेकी इच्छा नहीं जनमती।

बँसवारका चित्र दिखता रहा, दिखता रहा।

सहगामियोंको दो बार और भी लेटना उठना पड़ा।

बस रुकी और कंडक्टर बोला, "आप लोग उतर जाइए।"

पैसे दे दिये थे। सोचा कि लकड़मंडी आ गया। उठ कर देखा तो निचाट सड़क थी। कटेहरी स्टेशनके पासकी रेलवे क्रॉसिंग थी। पूछा, "क्या भाई, एक मील इधर ही उतार दोगे ?"

कंडक्टर बोला, "हाँ साहब। आगे हमें फँसने का डर है।"

मन ही मन कंडक्टर और ड्राइवरको कोसता हुआ, मन मारे मैं उतरा। इतनी देरकी बसयात्राने पैरोंको बाँध दिया था। पैदल चलनेमें कुछ कष्ट प्रतीत हुआ।

दो तीन फर्लांग चलने पर स्टेशनका प्रदेश समाप्त हुआ। छोटा-सा स्टेशन है। सड़ककी मोड़से रेलवे लाइनके किनारेकी झाड़ियाँ और उनके सामनेका टेलिफोनका खम्भा बड़ा भला प्रतीत होता है। इधरसे बस मोटर पर जाते समय बराबर यह इच्छा हुई है कि यहीं उतर जायँ और इसे देखते हुए पैदल ही चला जाय।

आज योग ऐसा बैठा कि उसे देखनेका अवसर मिला। भला तो लगा ही, पर यह न समझ पाया कि इसमेंकी क्या चीज़ मोहती है ? जाने नरकुलकी झाड़ियोंमें फूले हुए फूल या टेलिफोनके तार

पर कुछ झुक आई हुई एक टहनी या चिकनी काली सड़क या बीच में भागती हुई काली-काली लोहेकी पटरियाँ—जाने क्या अच्छा लगता है इस मनको, इन आँखोंको ?

हवा ठंडी ही थी, पर घाम तेज़ था। छाता तान लिया। पन्द्रह मिनटमें लकड़मंडीके बसस्टॉप पर पहुँचा। पसीनेसे भीग गया इतनी देरमें।

बसके बारेमें मालूम किया तो पता चला कि गोंडाको तो कई बसें जायेंगी पर सवा दो बजे जानेवाली, गोंडासे भी आगे बहराइच को जायगी और इस प्रकार इँटियाथोक तक मुझे पहुँचा देगी—जहाँ मुझे जाना था।

इसके पहले ही रेल भी मिल सकती थी, पर उसमें बड़ा टिटिम्मा था। लकड़मंडीसे मनिकापुर। मनिकापुरसे गोंडा। गोंडासे इँटियाथोक। तीन-तीन जगह गाड़ी पकड़ना कुछ अच्छा नहीं लगता था। सीधी बसका यह रास्ता भला। कुछ देरी ही सही।

प्यास और भूख लग रही थी। छोटी-सी बाजार है। सब ओर मिठाइयोंकी दुकानें या चाय पकौड़ीकी भी हैं। सब गन्दी। भड़भूँजेके यहाँ च्यूड़ा माठा था। पर उसे खानेका साहस न हुआ। चार आनेका सत्तू लेकर चद्दरके कोनेमें बाँधा। जाने कब, कहाँ जरूरत पड़ जाय! दूसरी धोतीमें चार आनेका लाई चना लिया। बगलकी दूकानसे सनलाइटकी एक टिकिया खरीद ली कि आगे देहातमें कहीं मिले या न मिले।

पर जब साबुन झोलेमें डाल लिया तो उसका वजन जैसे परेशान करने लगा। आखिर उसका भार कम करनेके लिए तय

किया कि कपड़े धो डाले जायँ—अभी काफ़ी समय था।

नल लगा है और चौकी है सिमेंटकी पक्की। आगे कहीं मिले न मिले। तो फिर धो ही डाला जाय कपड़ा। पर धोती और तौलिया साफ़ दिखे। कमीज बनियाइन अवश्य गंदी थीं। धोती मैली न होनेसे साबुनका लालच लगा। इससे धोती गंदी कर देने पर जुटा। हाथ पाँव, गले मुँहका पसीना रगड़-रगड़ कर पोंछ डाला। जूते पर धूल जम गई थी, उसे भी साफ़ कर डाला। धोती गंदी हो गई। उसे साफ़ करनेमें अब कोई पछतावा न होता।

जब सब कपड़े धो डाले तो ख्याल किया कि जमीन साफ न थी। कपड़े किस पर फैलाये जायँ? सोचते-सोचते अक्ल भिड़ा ही ले गया। छाता खोल कर रख दिया। उसी पर खूँटीसे फँसा-फँसा कर कपड़े फैला दिये—दोहरे तिहरे करके। गर्मीकी तपन ठहरी अभी तो सब सूखे जाते हैं। वहाँसे हट, छाँहमें आकर एक बेंच पर बैठ कर भूजा चबाने लगा।

थोड़ी ही देर हुई थी चबाते हुए कि सामनेसे एक वात्याचक्र (बवंडर) उड़ता आता हुआ दिखा। डर लगा कि कहीं छातेको उड़ा न दे। तुरन्त उठा कि कपड़े सँभाल लूँ। उसी जल्दीमें भूजा गिर गया और छींट उठा। जबतक छाते तक पहुँचूँ कि हवा आ ही गई और छाता डगमग हुआ।

और फिर देखते ही देखते दो चक्कर मार छाता आगे बढ़ गया। और बड़े आश्चर्य जनक ढंगसे छाता ऊपर उड़ गया। सुनने

पर विश्वास न होगा, पर छाता कमसे कम दस हाथ ऊपर उठ गया। कपड़े उसीमें अटके हुए। मैं विवश खड़ा देखता रहा। कुछ क्षणोंको मुझे लगा कि आज इस परदेशमें बिना कपड़ोंके ही, केवल यह एक धोती पहिने हुए ही रह जाऊँगा क्या! यह कैसी भाग्यकी विडम्बना!

छातेके जरा ही आगे जाने पर कपड़े तो गिरे। पर छाता उड़ता चला गया। सोचा कि छाता उलट जायगा। पर वह ईमानदारीसे बनाया गया था, शायद। आठ रुपये बारह आने तर गये। छाता उलटा नहीं, उड़ता गया। लगभग एक फर्लांग जाकर गिरा। और लोगोंके लिए यह एक तमाशेकी चीज़ हो गई थी। खड़े होकर देख रहे थे। एक साहब तो बोले भी, "अच्छा हुआ कि आप छाते के साथ नहीं थे, नहीं तो उस गर्म हवामें आप भी परेशान होते उतनी ऊँचाई पर!"

इच्छा हुई कि उसको समझा दूँ क्रियात्मक रूपसे, कि मेरा वजन इतना है कि उसके साथ उड़ जानेकी सम्भावना कम थी। पर चुप रहा।

जाकर कपड़े बटोरे। बबूलके काँटोंके बीचसे चलता हुआ गया और छाता लाया। इस बार कपड़े धोकर बस स्टेशनकी छाँहमें ही फैलाये। भूजा गिर गया था। कुत्ते खा रहे थे। पर फिर दुबारा खरीदने न गया।

सामनेकी बेंचपर एक स्त्री बैठी हुई थी—अकेली। लगती देहातकी ही थी किन्तु पहनने ओढ़नेके ढंगसे पता चलता था कि किसी कस्बे या शहरमें भी कुछ दिन रही है। नीचे जमीनपर

एक कुली बैठा था। उसीसे कुछ पूछ रही थी। बीच-बीचमें मुझे देख लेती थी यानी मैं भी देख लेता था। नंगे बदन बैठा था—इससे संकोच लगा। सोचा कि मेरा जनेऊ और कदकाठी देखकर मुझे पंडित समझ रही होगी। कुछ और देहातिन होती तो उसका यह समझना अच्छा लगता। पर शहरमें रह आई युवती पंडितको पोंगा समझेगी—इस विश्वाससे मनमें हीन भावना महसूस होने लगी। इस भावना पर विजय पानेके लिए झोलेमें से घड़ी निकाल कर हाथमें बाँध ली। बाँधनेमें काफ़ी समय लगाया क्योंकि उसका ध्यान किसी और ओर चला गया था। जब उसने देखा कि मैं घड़ी बाँध रहा हूँ, तभी मैंने घड़ी बाँधना बन्द किया। बनियाइन आधी ही सूखी थी फिर भी पहिन ली। कमीज लेकर धूपमें खड़े होकर झुलाने लगा कि सूख जाय।

दस पन्द्रह मिनट बाद कमीज पहिन, बेंच पर आ बैठा। स्त्रीने फिर देखा। दृष्टिमें कौतूहल न था। रससिक्तता भी न थी। किस भावसे देख रही थी, समझ पाना कठिन था। शायद स्त्रियोंकी निगाहको समझ पाना यों भी कठिन है।

उसकी बेंच पर जो स्थान खाली था, उस पर एक महाशय—देहात के ही सफ़ेदपोश—आकर बैठ गये। स्त्रीने पैर ऊपर कर लिये और उनकी ओर पीठ करके बैठ गई। उन्होंने भी पैर ऊपर कर लिये और उसकी ओर पीठ करके बैठ गये। दो चार मिनट वैसे ही बैठे रहे फिर थोड़ा और आरामसे बैठे—अर्थात् कुछ पीछेको सरक गये, इतना कि पीठ पीठको छूती-छूती ही बची रहे। स्त्रीको आभास मिल गया और वह आगेको सरक गई कि दूरी कायम रहे।

महाशयजीकी इच्छाशक्ति प्रबल थी। दो चार मिनट बाद ही और पीछे सरक गये। अब स्थिति ऐसी थी कि एक चौथाई बेंच पर स्त्री थी और आधेसे भी अधिक पर महाशयजी पैर फैलाये अधलेटेसे थे। स्त्री दो चार मिनट बैठी रही फिर उठकर खड़ी हो गई। चप्पल पहिनी और सामनेकी दूकानकी ओर चल दी। महाशय जी तुरन्त ही लेट गये शायद खिसिया कर, या लेटने के ही लिए यह सब किया रहा होगा।

इस सीनका पर्दा ड्रॉप हुआ तो बगल में देखा। दूसरी ओर मुँह किये, घूँघट काढ़े एक महिला सिसक रही थी। पास में रखे सामान और उसकी देहके कपड़े लत्तेसे जाना कि दुलहिन है, विदा हुई है। मातृप्रेममें विह्वल हो सिसक रही है। पर पासमें कोई वर जैसा न दिखा तो समझा कि बगलमें बकस पर बैठे वृद्ध—सम्भवतः उसके ससुर—विदा कराने गये थे।

जबसे जर्मान पर दरी बिछाकर उसके ससुरने उसे बिठा दिया था, तभीसे वह सिसक रही थी। पासमें, चुप करानेके लिए कोई महिला भी न थी।

दसेक मिनट बाद वह उठी। जरा घूमकर लौटी। नलके पास रुक गई। इसके चलनेके ढंगसे जाना कि नवविवाहिता नहीं है। ससुरके घर पहिली ही बार नहीं जा रही है। नल पर मुँह हाथ धो उसने जरा आड़में जाकर सरयूकी ओर अयोध्याके मन्दिरोंकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े। पाँच मिनट तक पता नहीं क्या माँगती रही। फिर घुटनेके बल बैठ गई। नमित रही कुछ क्षण, फिर उठी और घूँघट काढ़ अपनी जगह पर आ बैठी।

उस स्त्रीका यह नमन इतना अच्छा लगा कि मन ललच उठा। खेद हुआ कि घरसे चलते समय अपने ग्राम-देवताके आगे क्यों न इसी प्रकार झुका ? चाची आदि तो गाँवसे चलते समय बराबर ही सिवान (सीमान्त) पर आकर प्रणाम करती रही हैं।

●●

३

# चलत बिरियाँ

इँटियाथोक।

शामको सवा पाँच बजे पहुँचा। रास्ते भर बसमें ऊँघता हुआ आया। केवल एक स्थानपर पन्द्रह मिनटके लिए नींद खुल गई थी। किसी बाजारमें बस रुकी थी। ड्राइवर पान खाने उतरा और पानवालीसे जिस शैलीमें उसकी बातें होने लगीं, उससे आकर्षित हो बहुतसे लोग उतर गये पान खानेके लिए। इसी कौतुकमें ऊँघ चली गई। चुपचाप देखता रहा।

एक महोदयने पान खाकर पीच अपनी साफ धोती पर गिरा ली। फिर खड़े होकर पछताने लगे कि 'सेनगुप्ता' का जोड़ा है—अठारह रुपयेवाला। दाग पड़ गया अमिट। दो-चार उपदेशक भी निकल आये यह समझानेवाले कि यों नहीं थूकना था, यों नहीं खड़े होना था।

चार-पाँच पेड़ आगे ही आमका एक पेड़ था। मैंने कहा, "भाई, उसमेंसे एक आम तोड़ लाओ, अभी साफ हो जायगा।"

उनकी समझमें नहीं आई बात। तब मैंने कुछ समझाया भी। वे पेड़की ओर बढ़े भी, फिर आधे रास्तेसे ही लौट आये। हलवाईकी दुकान पर खड़े होकर पानीसे धोने लगे पानके दागको। मुझे क्रोध आया उनपर। पर उससे अधिक खेद हुआ। फिर मनको उधरसे खींचकर, दूसरी ओर मुँह करके बैठ गया।

पीछे ही बैठे थे। बस चली तब भी उनका पछतावा चल रहा था। फिर दया आई। झोलेमें, घरसेचलते समय आठ-दस प्याजें डाल ली थीं कि लूकी गर्मीको खींच लेती है यह। एक निकाली। छीलकर दाँतसे काट, उनकी धोतीके दागपर रस रगड़ा। एक मिनट में ही सब साफ हो गया। आमसे बिलकुल साफ हो जाती। वे खी-खी कर हँसने लगे। मैंने बस एक बात कही और दूसरी ओर मुँह करके बैठ गया, "आपसे कहा था कि एक आम लेते आइए न?"

हँटियाथोक छोटी-सी बाजार है, बिसुही नदीके पासमें। छोटा-सा, बड़ा प्यारा रेलवे स्टेशन है।

घूम-घामकर मालूम करनेकी कोशिश की कि मनोरामा नदी किस तरफसे बहती है। पर लोग असमर्थ रहे। एक जनेने बताया कि नदी नहीं मनोरामा नामका ताल है यहाँ। सोचा मैंने कि भरसक इसी तालसे नदी निकली होंगी। और इस बातकी पुष्टि भी हो गई। यों कि किसी और ने बताया कि तालके किनारेसे एक नाला निकला है। सुना है कि आगे चलकर वही नदी हो गया है।

ठीक वैसी ही बात कि जैसे हमारी ओर कोई कहता कि सुनते हैं कि मनोरामा नामका एक ताल भर है, नदी नहीं।

तिर्रो मनोरामाके नालका रास्ता सही-सही मालूम करनेमें पर्याप्त परेशानी हुई। एक बार तो मुझे लगा कि जैसे अपने गाँवके आसपासमें यह मालूम करनेमें कई दिन लग गये थे कि ये मनोरामा नदी कहाँसे बहकर आती हैं; वैसे ही यहाँ नदीका उद्गम भी कई दिनोंके धैर्यके उत्तरमें ही पता चलेगा। असली परेशानी तो यह थी कि कोई कहे कि गिलौलीसे निकट पड़ेगा और कोई यहींसे बताया था। जो हो, इतना तो तय था कि पश्चिम ओरसे निकली होंगी क्योंकि भारतकी सभी नदियाँ पश्चिमसे पूर्व और उत्तरसे दक्षिणको बहती हैं। और यह भी तय था कि तीन चार कोसके अन्दर ही यह ताल होगा। तो ढूँढ़नेमें कितनी देर लगती है—पूछते पूछते आदमी दिल्ली चला जाता है।

यह सब काम सुबहके लिए छोड़कर, रहने खानेकी व्यवस्थाके फेरमें पड़ा।

अपने घरोंमें टिकानेके मामलेमें यहाँके लोग—बाजार होनेके कारण शायद—काफी शंकालु थे। इस मामलेमें हमारी ओरके गाँव अच्छे हैं। बड़ी मुश्किलसे एक मन्दिरमें स्थान मिला। पर पुजारी कोई न थे। और मन्दिरके मालिक (?) बनिये ने भीतरकी एक कोठरीमें रुकनेके लिए बताया। कोठरी गन्दी पड़ी थी, बन्द भी थी। मन्दिर भी यों ही हो रहा था।

कोठरीको एक झाड़ूसे साफ किया। बनियेने झाड़ू दी नहीं तो चार पैसेकी खरीद कर लाया। मालूम पड़ता था कि मुझसे

पहले कुछ लोग उसमें टिक गये थे, क्योंकि पानकी पीक, बीड़ीके टुकड़े, कागज, पत्तल दोने पड़े थे।

एक अलमारी पर खड़ियासे लिखा था—'खोलो मत, खतरा है।'

बचपनमें पढ़ी सुनी भूतकी कहानियोंकी स्मृति हो आई जिनके अनुसार भूत किसी डिबिया या कोठरीमें बन्द रहता था और राजकुमारको उसे खोलनेके लिए मनाही थी।

बहुत सहमते-सहमते कि इसमें साँप या बिच्छू तो नहीं बन्द हैं, उसे खोला। भीतर धूल थी, जाले थे। जैसे उसे वर्षों से न खोला गया हो। हिम्मत कर उसे भी साफ कर डाला और फिर खुली रहने दिया।

यदि उस दिन उस लिखे हुए का कहना मानकर अलमारी न खोलता तो रातमें आने वाली विपत्तिसे बचा रहता। पर भाग्य भी तो कुछ होता है!

झाड़ूको कोनेमें खड़ी कर, सामानको अलमारीमें रख, बाहर निकला। बनिये से कहा कि सामान रखा है, अभी आता हूँ।

उसने सामान छोड़नेको साफ मनाकर दिया। विवश झोला छाता लेकर निकला।

देहाती बाजारोंकी तरह यहाँ भी दूकानें गन्दी थीं। अपेक्षाकृत साफ हलवाईके यहाँ आधा सेर दूध पिया। मालूम किया कि रातमें पूरियाँ सब्जी बना देगा। उसीके यहाँ सामान रख घूमनेके ख्यालसे निकला। सामान रखते समय यह भी कुछ शङ्का प्रगट कर गया। बोला, "भइया जी, अफीम गाँजा तो न होगा?"

उसके प्रश्नके उत्तरमें केवल मुसकरा कर चला आया।

अँधेरा होने तक आसपासकी सोई, परतीमें भटकता रहा। डूबते सूरजकी किरनें। अमराइयाँ और दूरकी दिखती क्षितिज रेखाके समीपकी वनमालायें।

हलवाईके यहाँ खाया-पिया। बाजारसे मोमबत्ती दियासलाई खरीद मन्दिरमें आया। मोमबत्ती जला, कम्बली बिछा कुछ लिखनेके उपक्रममें लगा। आधे घण्टे तक जबर्दस्ती कोशिश की। पसीना बहुत आ रहा था, बन्द कोठरी थी—गर्म।

फिर आराम करनेके ख्यालसे लेट गया। कोठरी एक तरफको ढालू थी। अल्मारीकी ओर ही सिरहाना कर सकता था। यों मैं अल्मारीके सामनेकी ओर लेटकर उसे देखते रहना चाहता था कि खतरा किस वेशमें रहता है।

लगभग पन्द्रह मिनट लेटा रहा होऊँगा। इतनेमें ही पसीनेसे नहा गया। हारकर सोचा कि चलो स्टेशनपर रात काटो। बेंचें तो पड़ी ही हैं और कुछ सवारियाँ भी होंगी। न होंगी तो गाड़ीसे उतरेंगी। वहाँ हवा तो लगेगी। यहाँ तो हुलिया बदल जायगी।

तुरन्त उठा। उठते ही तो जैसे माथा घूम गया। मालूम पड़ा कि कन्धा उखड़ गया। उसे थाम बैठा रह गया ठगा-सा। अल्मारीके पट खुले थे और मैं उसके नीचे ही सोया था। उठने पर कन्धा उसीसे भिड़ गया था।

अब समझमें आया कि खतरा काहेका था। कमरेकी बनावट और ढलानको देखते हुए उसी तरहसे ही, वहीं, सोया जा सकता

था। किसी चोट खाये हुए, अनुभवी परोपकारी आदमीने कृपाकर वह वाक्य उसपर लिख दिया था।

खिसिया कर पट बन्द कर दिये।—'खोलो मत, खतरा है।'

सामान समेट बाहर आया। बर्निएका पता न था। स्टेशनपर एक बेंच पर आकर लेट रहा। सिरहाने झोला रखा। पासमें ही लैम्प जल रहा था। और स्टेशन पर अँधेरा था। सोचा कि प्लेट-फॉर्म टिकट ले आऊँ, फिर आलस्य कर गया। लेटे-लेटे दूरकी सिगनलकी बत्तियाँ देखता रहा। देखते-देखते सो गया।

एक नींद सो लिया होगा कि नींद खुल गई।

घंटी बज रही थी, कोई ट्रेन आनेवाली होगी। सारा प्लेट-फॉर्म चुप पड़ा था। कोई चहल-पहल नहीं। अँधेरेकी अनन्त राशि बिखरी थी। दूर तकका प्लेटफॉर्म और अन्य प्रदेश एक वर्णके हो रहे थे।

घंटी बजनी बन्द हो गई। वही सन्नाटा ब्याप गया। लगा कि कैसा एकांत्य आ समाया है मनमें। चारों ओरसे अकेला, निरीह बूझने लगा अपने आपको। पता नहीं कैसी भावना होती है यह, जो कभी-कभी आ बस जाती है। चारों ओरसे तोड़ दिये गये हों जैसे। निस्सहाय फेंक दिये गये हों कहींको जैसे।

कभी-कभी सोचा है कि यह शायद अनास्थाका फल है। जब मनको कोई विश्वास नहीं मिलता, जब ऐसा कुछ रह नहीं जाता कि जिसपर बिना कुछ सोचे समझे अपने आपको दे डाला जाय, तो मन ऐसे ही आकुल क्षणोंमेंसे गुजरता है। पर जहाँ

विश्वास होता है, वहाँ निश्चिन्तता रहती है। मनको यदि भागने की तनिक भी सन्धि मिलती है तो वह आस्था रोकती है, विश्वास दिलाती है कि तुम अकेले ही नहीं हो, तुम्हारे साथ मैं भी तो हूँ।

पर इस अनास्थाको हटा पाना भी तो आसान नहीं होता।

चुप वैसे ही पड़ा रहा। डूबता-उतराता रहा वह वैराग्य भाव मन ही मन।

दूरसे सुनाई दी गाड़ीकी झक-झक। स्टेशन खाली था। कोई जानेवाला ही नहीं। झक-झक निकट आती गई। छोटेसे स्टेशन के अँधेरेमें वह आवाज जैसे बड़ा गम्भीर अर्थ रखती रही हो। कुछ रोमैंटिक भी लगा। गाड़ीकी आवाज उस नये अमेरिकन इंजिनके चीत्कारकी-सी नहीं लगती। चुप-चुप धीरे-धीरे प्रवेश करती हुई ट्रेन। कुछ रहस्यात्मक-सा भी लगा।

गाड़ी खड़ी हुई। डिब्बोंमें रोशनी नहीं थी। कुछ लोग उतरे। बहुत हल्की चपलता हुई। वह लगभग बीस मिनट खड़ी रही। फिर जैसे आई थी, वैसे ही धीरेसे रेंग गई। पहिले कुछ खड़बड़ की ध्वनि हुई, फिर वह भी झक-झकमें बदल कर धीमी हो गई। और एक क्षण ऐसा आया कि वह लुप्त हो गई—झक-झक-झक-झक-झक-झक·····

चाँदनी निकल आई थी। धूलसनी रोशनी थी। बीच-बीचमें दूरसे एक टिटिहरी चिड़ियाकी आवाज आ रही थी। जरा देरमें एक भुजइल भी बोलने लगा—'ठाकुरजी', 'ठाकुरजी'····· 'ठाकुरजी'·····

घड़ी देखी, तीन बज रहा था। सुबह हो रही थी।

कुछ ही दूरीपर लेटा एक व्यक्ति उठकर बैठ गया। धूमिल रोशनीमें स्पष्ट न हो पाया। पर लगा कि जैसे कोई साधु है।

सुबह के समय मन चहक जाना चाहिए। पर जाने क्यों मन अकुला रहा था, जैसे जाड़ेमें दिनको सो जाए और दिन डूबते-डूबते सोकर उठे तो मन उचाट हो हो जाता है।

उठ कर बैठ गया और बेंच पर उठँङ गया। चाँदनी फीकी पड़ती जा रही थी। स्टेशनपर एक दो आदमी और उठ कर बैठ गये। आवाज आई—'राम राम, प्रभो!'

'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण!'

साधुने शुरू किया—

**हमकाँ ओंढ़ावैं चदरिया, चलत बिरियाँ**

साधुकी आवाज सीधी-सादी निर्गुनी थी। उस एकांत वेलामें उसका निर्गुन पद मनको हिलाने लगा—

**हमकाँ ओढ़ावैं चदरिया, चलत बिरियाँ**
**प्रान दास जब निकरन लागे, उलटि गईं दोउ नैन पुतरियाँ**
**भीतर से जब बहिरे लाये, छूटि गईं सब महल-अटरियाँ**
**चारि जने मिलि खाट उठाइनि, रोवत लइचले डगर डगरियाँ**
**कहत कबीर सुनौ भाई साधो, संग चलीं वै सूखी लकरियाँ**

उठा। पासके नलपर जा मुँह धोया। लौट, झोला छाता लिया। फिर तड़के की, पल-पल खिलती जाती रोशनीमें—उस समयके धुँधलकेमें स्टेशनके बाहर हो लिया।

सड़क पार की। चार बज रहा था। सारी बाजार चुप पड़ी

पसरी थी। पार किया। बड़ी सड़क पर आया। शामको पूछे रास्तेकी ओर चला। बड़ा पुल बिसुही नदीका, पार किया। दाहिने खेतोंमें उतर गया। डहर जाती थी वहींसे। चला।

मनमें फिर वही चिरपरिचित भाग-भाग सी लगने लगी। मालूम था कि तिरों मनोरामाके ताल चल रहा हूँ। संयोजित यात्रा थी। फिर भी जाने किन अजाने देश-प्रदेशके रास्तोंके लिए मन अहकने लगा। एक छटपटाहट-सी होती है जो सम्पूर्ण मन हृदयपर छा जाती है। जाने किस अप्राप्यकी तृष्णा इस सम्मुखके प्रति विराग ला देती है। मन अकुला उठता है।

चुपचाप चलता गया। डहर लगी थी, पूछनेकी आवश्यकता नहीं। और उतनी सुबह पूछे भी किससे। चलता चला गया।

हमकाँ ओढ़ावैं चदरिया, चलत बिरियाँ
हाँऽऽ रामाऽऽ···चलत बिरियाँ···हाँऽऽ···

●●

# रघुवर सँग जाब

पक्के चबूतरे पर निढाल हो पड़ा हूँ। आँखें मूँद रखी हैं। ठण्डी सुखद हवा सुरसुर कर लग रही है। घने पेड़की छाया भी प्रतीत हो रही है। इसीसे आँखें मुँदी होने पर भी सम्पूर्ण चित्र अपने सम्मुख दिख रहा है कि खूब बड़ा पेड़ है। बगलमें ही बहुत बड़ी बावड़ी है। सीढ़ियाँ लगी हैं। चारों ओर बगिया हैं। दो और मन्दिर भी हैं। कुँए बने हैं। और इन सबसे अलग एक चित्र है कि बड़ा पेड़ है। उसीके नीचे चबूतरे पर मैं लेटा हूँ। स्पष्ट चित्र देख रहा हूँ लेटे लेटे। इसी समयकी अपनी ही मुद्रा आकृतिका चित्र। छाता, झोला, जूता एक किनारे।

कभी हम भविष्यके सुखद कल्पना या भय चित्र देखते हैं, कभी अतीतके स्मृति खण्ड। पर यह वर्तमान—सम्मुखके वर्तमानको चित्र रूपमें, आँखें मूँदकर देखना भी एक यथार्थ है। जैसे धूपके

चश्मेमें पड़ते अपने आस-पासके दृश्यके प्रतिविम्बको देखा जाय। अपने आपको चित्र रूपमें देखना।

कहींसे नहानेके लिए आती हुई स्त्रियोंकी स्वरलहरी कानोंमें पड़ रही है। पहिले धीरे-धीरे फिर निकट आती जा रही है—

**रघुबर सँग जाब, हम न अवध मँ रहिबै**

उठ कर बैठ गया। देखा पीली धोतियोंमें पाँच-छः स्त्रियाँ गाती हुई चली आ रही हैं। नीचे घाट पर कुछ साधु लोग नहा रहे थे या कपड़े फींच रहे थे। एक महात्मा पासके पेड़के नीचे बैठ कर पाठ कर रहे थे—

**या देवी सर्वभूतेषु···**

तिरोमनोरामा ताल काफी प्राचीन जान पड़ता है। तीन तरफ सीढ़ियाँ एक ओर ढोरोंके पानी पीनेके लिए सादा मार्ग। ईंटें छोटी छोटी लखौरी, कसी बँधी हुई। घाट कुछ टूट-फूट चले हैं। पच्छिम ओर पुराने मंदिरके खंडहर हैं। दक्षिणमें नये मंदिर हैं—शिव-पार्वती और राम-सीताके। उत्तरमें नाऊका मन्दिर है जिसमें किसी देवी-देवताकी प्रतिस्थापना ही नहीं हुई है।

चारों ओरकी बगिया और कुँओंसे एक विशेष वातावरणकी सृष्टि होती है। तपोवन जैसा तो नहीं लगता, पर हाँ, यदि सफाई की जाय, गोबरसे लीप दिया जाय तो पवित्रता बढ़ जायगी और तपोवन लगने लगेगा।

तालके पूर्वकी ओर घाटोंके नीचेसे एक सुरंग निकली है। उसमें पानी नहीं है, सूख गया है। सुरंगमेंसे आदमी खड़े होकर जा सकता है। सुरंग एक फर्लांग आगे जाकर बगियामें खुली है।

जब नालेमें पानी बढ़ता है तो बगियासे पानी ढलान पाकर उत्तरकी ओर बढ़ता है। एक फर्लांग जाकर फिर पूर्वकी ओर घूम पड़ता है खेतोंमें। पर इन सबका कोई चिह्न नहीं है। इसके अर्थ यह हुए कि यह पानी केवल बरसातमें निकलता है और उस समय जैसी दशा चारों ओर हुई रहती है कि थोड़ी-सी नीची जगह पाकर भी पानीकी डहर-सी बन जाती है, वैसी ही यहाँ भी बन जाती होगी।

और यही हैं मनोरामा नदी जो आगे जाकर कहीं-कहीं आजकल गर्मियोंमें भी, हथियाबुड़ान पानीसे लबालब भरी रहती हैं।

स्त्रियोंका गीत अभीतक चल रहा था—

**जौ रघुबर बनफल खइहैं, फोकली बिनि खाब···**
**रघुबर सँग जाब···हाँ···**

नौ बज रहे थे। इँटियाथोकसे दो घंटेमें यहाँ पहुँच गया था। एक तो तड़केका वहाँसे चलना और फिर यहाँ आते-आते चलनेकी मेहनतका पसीना। इसलिए आँखें करुआ आई थीं। आते ही आधे घंटेके लिए पड़ा रह गया था। फिर उठकर मुँह हाथ धो, दतौन किया। रास्तेमें ही निवृत्त हो लिया था।

उठकर नीचे सीढ़ियोंपर गया। स्नान करने लगा। तभी स्त्रियाँ आ गईं और निस्संकोच भावसे नहानेकी तैयारीमें हँसती-बोलती हुई लगीं। मुझे झेंप लगी। जल्दीसे नहाकर निकला। कपड़े बदल सामान ले राम-सीताके मन्दिरमें चला गया। पुजारीजी

को प्रणाम कर सामान रखा और आगे बढ़ मूर्त्तियोंके सम्मुख झुकनेका नाट्य किया।

मन ही मन खीझसे भर उठा कि बचपनमें क्यों नहीं दिमागमें अन्धश्रद्धा भर दी गई थी कि भगवानके प्रति परम विश्वास जमा सकूँ। और यदि ऐसे ही होना था तो, मनको ये सब क्रियाएँ : नमन पूजन आदि क्यों अच्छी लगती हैं ? क्यों अच्छा लगता है यह ताल और मन्दिरका वातावरण, ये पीली धोतियाँ, ये साधु और गेरुआ रंग ? हे मनके स्वामी, यह कैसा छल करते हो ? क्यों न तुमने मुझे मँशौवाके कौंके काकाकी तरह बनाया कि गुड़को मीठा और नमकको खारा समझ पाने भरकी ही बुद्धि रहती ? मनको सालती रही यही बात।

और ऊपरसे पुजारीजीसे बातें करता रहा। लोक-अभिव्यंजना शैलीमें कहूँ कि धर्म-चर्चा चलती रही। पुजारीजी बिहारके हैं। यहाँ मंदिरको गाँव और बगिया मिला हुआ है। उसीकी आमदनी से सब चलता है। वही सारी देख-रेख रखते हैं। आजकल कई मुकदमे चल रहे हैं गोंडामें, मंदिरके खेतोंके बारेमें ही।

मुझसे मिलकर उन्हें परम प्रसन्नता हुई, ऐसा उन्होंने कई बार कहा। भोजनके लिए निमंत्रित किया। मैं हँसकर टाल गया तो बोले, "सत्तू ही खा लीजिये। ब्राह्मण हैं तो भात कैसे खायँगे ?"

कपड़े उतार कर उनके धुले आँगनमें जीमा। आमकी चटनी थी, सत्तू उम्दा था। पेटसे कुछ ऊपर ही खा गया।

फिर लेट कर आराम किया। आँगनमें ही शरीफे आदिके पेड़ लगे हैं। यों बाहर के पीपल के पेड़की छाँह सदैव ही बनी

रहती है। छाँहमें लेटे-लेटे दर्शनार्थियों को देखा किया। इक्के-दुक्के ही आते हैं। दर्शन, प्रणाम और परिक्रमा करते हैं। प्रसादमें तुलसीदल ले जाते हैं।

ग्यारह बजे मंदिरमें एक लड़का आया। पाँच पके आम लाया था। जेठमें थोड़े-थोड़े आम पकने ही लग जाते हैं। पुजारी जी बोले, "आम खिलाओ अतिथिको।"

लड़का मेरे पास आया। बड़े स्नेहभावसे बोला, "आम खावा जाय।"

मैंने उसे बैठनेको कहा। पुजारीजी बोले, "बड़ा सुशील बालक है। धार्मिक भी है। प्रतिदिन आम लाता है, झोर-झार कर। इसकी माता बड़ी धर्मात्मा थीं। नई माँ आई है, बिलकुल चुड़ैल है। लड़केको ठीकसे खाने-पीनेको ही नहीं पूछती। बेचारा इधर-उधर भागा करता है। परके साल भाग गया था तो यहाँसे पैदल चलता-चलता अयोध्या पहुँच गया।"

मैंने लड़केको देखा। गोरा, साफ नक्श। उम्र होगी सोलह साल। धोती कर्मीज स्वच्छ पहिने था। चेहरेसे लज्जालु लगता था। विश्वास न हुआ कि यह अयोध्या अकेले ही पैदल भाग गया होगा। फिर भी पुजारीजी की बातका विश्वास कर यह महसूस करना ही था कि लड़का हमशौक है। इधर-उधर की बातें करने लगा। मालूम हुआ कि पढ़ने जाता था, पर मन नहीं लगता था, इससे बन्द कर दिया।

'मन काहेमें लगता है' का उत्तर था—घूमनेमें। बहुत शरमाते-शरमाते उसने कहा।

सोचा मैंने कि सौतेली माँका दुर्व्यवहार टिकने नहीं देता होगा घरमें। घरमें बिना किसी आकर्षणके कैसे रुके यह !

पुजारीजीके पास सन्तोंके पदोंकी कोई पुस्तक थी---'मोहनी संगीत' या 'संत सुधा सार'। लड़का उसीको ले आया मंदिरमें से और पेड़से उठँङ कर पढ़ने लगा। मैं पुजारीजीसे बात करने लगा। प्रसंगवशात् बता दिया कि मैं यहाँसे घरतक नदी किनारे-किनारे पैदल ही जाऊँगा। देखा तो लड़का कान पारे हुए बातें सुन रहा था। पुजारीजीसे उसी सिलसिलेमें और बातें होने लगीं कि रुकने-टिकनेकी क्या व्यवस्था होगी, गर्मी बहुत है, लू का डर है आदि आदि।

पुजारीजी किसी कामसे भीतर गये तो देखा कि लड़का भी पीछे-पीछे चला। आधे मिनट बाद पुजारीजी के 'खो खो खो' कर हँसनेकी आवाज आई और फिर वे स्वयं दिखाई दिये, "सुना आपने ! यह कहता है कि मैं भी बाबूके साथ-साथ जाऊँगा पैदल ही।"

मैं भी हँस दिया। सोचा कि इसे वास्तवमें, कुछ है जो घरमें सालता है। माँ अत्यन्त दुर्व्यवहारिणी है क्या ! पूछा, "तुम्हारे घरमें कौन-कौन हैं ?"

"माई, दादा, काका, फूआ, आजी, छोट-भाई।"

"सगा भाई ?"

"ना, मयभा पूत।"

"माई तुम्हें नहीं मानती ?"

लड़केने शरमा कर निगाहें नीची करलीं। पुजारीजी बोले,

"मयभा तो मयभा! क्या मानेगी ? फिर रामने उसे भी एक लड़का दे दिया है। रहासहा प्रेम भी खतम हो गया होगा।.....एक फूआ है विधवा। वही मानती जानती है। वह न पूछे तो इसे रोटी भी न नसीब हो। बेचारा लड़का !"

मैं लड़केके चलनेके बारेमें सोच रहा था। कहा, "घरका कामकाज देखो भइया। इधर-उधर फालतू घूमनेसे क्या पाओगे?"

"हम ना रहब घर माँ।"

"काहे ? घरका काम-काज देखो। उसीमें मन लगाओ।"

"घरके काममँ हमार मन नाहीं लागत।"

"फिर ?"

"टहरब, घूमब। हिंया ना रुकब।"

लड़का बहुत शरमा-शरमा कर बोल रहा था। बड़ी-बड़ी आँखें थीं। उन्हें जब खोलता था तो एक अबोध जिज्ञासाकी छाया उनमें तिरती थी। उन आँखोंसे यह कहीं नहीं दिखता था कि इन्होंने कष्ट झेला होगा। इसी भावनाको लोग यों समझ लेते हैं कि ये आँखें कष्टको बर्दाश्त करने लायक नहीं हैं और फिर यह जानकर कि इन्हें कष्ट दिया जाता है, वे दोनों बातोंको एक दूसरेकी तुलनामें बिठाकर पात्रके प्रति करुणा ले आते हैं।

जभी एक स्त्री आई। चाल-ढाल, चेहरे-मोहरेसे पूरी गिरिस्तिन लगती हुई। जैसे कुछ चिंतित हो। लड़का उसे देखते ही खड़ा हो गया और कतराकर निकलनेको हुआ। स्त्रीने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और बोली, "हिंया लुकायके बैठे हो ? घरमें जगह नहीं है ? पढ़ना लिखना छोड़ दिया तो छोड़ ही दिया, अब घरके

कामसे भी गये ! हजार बार समझाया कि कुछ गिरिस्तीकी भी सुधि लो। पर इतने बड़े हेंढ़ा जैसे हो गये, अकिल न पाई। चलो घर।"

लड़का हाथ खींचता हुआ बोला, "हम ना जाब घरकाँ।"

"ना जाओ, ना जाओ। कौन कहता है कि जाओ। पर सबेरेसे जो झुरंठी देह लिये घूम रहे हो, यह झर जायगी बिना खाये-पिये। लो, भकोसो, नहीं तो यह देंही बिलाय जायगी।" कह स्त्रीने आँचलमें बाँध रखे दो लड्डुओंको उसे दिया। लड्डू नुक्तीचीनीके नहीं। गरी, छुहारे, किशमिशके बाँधे हुए थे, पुष्टई वाले।

लड़केने उन्हें ले लिया पर खाया नहीं। इस पर वह तुनक कर बोली, "खा इसे अभी ! अभी तुरंत।"

लड़का बोला, "पहले हाथ छोड़।"

स्त्रीने हाथ छोड़ दिया तो लड़का खाने लगा। गया, पास ही रखे गगरेके पास जा बैठा कि खाकर पानी पियेगा। स्त्री बोली, "और देखोरी दइया, इस लड़केके हवाल ! अभी कल ही साबुनसे धोया था इसका सब कपड़ा। और आज गंदा कर लिया। कमीज पर दाग कैसे-कैसे डला आया है !···जाने क्या करता है !···"

अब जैसे उसे हम लोगोंका ध्यान आया हो। मेरी ओर देख बोली, "कैसा बाँगड़ू है यह ! अपना कपड़ा तक ठीकसे सहेजनेकी अकिल नहीं। जानें राम, कब इसे ढँड आयेगा। इस्कूल जाता था तो रोज रोशनाई गिरा लाता था और मैं रोज धो देती थी कि धो दो नहीं तो मुंशी मास्टर मारेंगे बेचारेको। अब बंद कर दिया

इस्कूल जाना तब भी हर दूसरे-तीसरे धो देती हूँ कि चार जने देखें तो यह न कहें कि लड़का पढ़ा-लिखा नहीं है।···अरे भइया, देस दुनियाकी रीति है। मैं तो बेपढ़ी हूँ, इतनी गंदी पहिने हूँ फिर भी साफ है। कोई कहनेवाला तो नहीं। और पढ़े-लिखे लोगोंकी और बात है। अब भइया, तुम्हीं इतना साफ-सुथरा पहिने हो तो मालूम पड़ता है कि पढ़े-लिखे हुसियार हो। नहीं तो किसीके माथे पर थोड़े ही न् लिखा होता है कि यह पढ़ा-लिखा है।···है कि नहीं, भइया ?"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ, क्योंकि मैं उसकी बात नहीं सुन रहा था बल्कि लड्डुओंसे उसका संबंध जोड़ यह पक्का कर रहा था कि हो न हो यह लड़केकी फूआ ही है। पुजारीजीने कहा था कि फूआ उसे मानती-जानती हैं।

मेरा सहमति पाकर स्त्री मेरे प्रति उत्सुक हुई। बैठ गई और बोली, "कहीं दूरसे आते हो, भइया ?"

"हाँ, राही हूँ।"

"जभी तो यहाँ परदेशमें इस तरह पड़े हुए हो। घर होना तो आरामसे रहते।"

"सो तो है ही।" उसकी प्रकृति देख, मुझे उसकी हाँ में हाँ मिलाना ही श्रेयस्कर लगा।

"भोजन-पानी हुआ ? कुछ बनाया था।"

"पुजारीजीके यहाँ ही सत्तूका भोग लग गया था।"

"गाँवमें चले आते, किसीके यहाँ भी रसोई बना लेते। बाम्हन होगे !···यहाँ सूखा-सूखा सत्तू चाटा होगा। कुछ अचार

खटाई भी नहीं रही होगी !···मैंने तो अबकी कई अचार डाले। आम फल गये थे राम कृपासे। सोचा कि अभी तो कच्चे हैं, पीछे मिलें ना मिलें। इससे अचार डाल दिये। भइया, मैं हर साल अचार छोड़ती हूँ। नहीं होता तो कागदी नींबू ही बजारसे ले आते हैं, उसीको छोड़ देती हूँ। कटहल, करौना, अमार, लहसुन सबका छोड़ती हूँ।···"

इतने में लड़केकी ओर घूम बोली, "खाया रे ?"

लड़का अभी खा ही रहा था। यह बोली, "खा जल्दी और चल घरको। हिंया धूप-लूहमें चक्कर काट रहा है। अभी बवंडर धर ले तो पता चले। और जो घूमना ही है तो चार ठो पियाज ले ले। जेबमें डाल ले और बगियामें बैठ। सारा आम पीटे ले रहे हैं ये गाँववाले। एक भी नहीं रहने देंगे, जानो, पेड़ोंमें।···"

उठकर खड़ी हो गई और द्वारकी ओर जाती हुई बोली "इत्ती बखत भी पीटे ले रहे होंगे। अभी देखती हूँ।···"

द्वार पर रुक वह बाहरको खोजती निगाहोंसे देखती हुई बोलती रही, "देखो तो जरा ढिठाई, इन सबकी। कितने गेदहरे इकट्ठा हो गये हैं बगिया में !···हिंया तो आ रे भइया। जोरसे अवाज लगाय दे कि कुछ तो खौफ खायँ।···आ तो !···"

लड़का उठकर गया। चिल्लाया द्वार परसे ही, "...हे एऽऽ रे एऽऽऽ···देखा···देखा···। रुको तो, अभी आइ गया। तबै बताऊँगा। रुक तो ! हे एऽऽऽ रे एऽऽऽ···खड़ा तो रह !···"

स्त्री बड़बड़ाती रही, "···देखो तो दाढ़ीजारों को। कैसे बेसरम हैं ! बात ही नहीं सुन रहे हैं एक्को ! अभी पहुँचूँ तो एक

एककी खबर लेऊँ !···बदमास, इनके घरमें आग लगे। छत्तिस अकाल पड़े। ओबा माई ले जायँ इन्हें ! ससुरे सुन ही नहीं रहे हैं।···जा रे भइया। तुम्हारे जानेसे भागेंगे सब। देखकर आना और पकड़े लाना जो हाथ आये उसे।···"

लड़का बाहर निकल गया। यह चिल्लाई, "छोड़ना नहीं किसी को। आज बताऊँगी जो भी हाथ आ गया, उसीको।...सब फत्तेसिंह बने हैं।···हुँह···"

'हुँह' तक आते-आते इसकी आवाज सम पर आ गई अर्थात् यह शब्द स्वगतमें ही रह गया। और यह स्वाभाविक ही था कि इसके पश्चात् उसे फिर हमारा ध्यान आता। वह घूमी और बोली, "सारा आम गाँवके लड़के ही खा ले रहे हैं। अपने मुँह जो एक भी जाय। नहीं तो भइया, इतना फलता है यह पेड़ कि क्या बताऊँ ! और इतना अच्छा होता है कि खाओ तो सदा सराहो जहाँ भी जाओ।..."

एकदमसे उसने बातका विषय पलट दिया। बोली, "तुम्हारी ओर आम फला है, भइया ?"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ क्योंकि इस साल मेरी ओर आम नहीं फले थे।

फिर वह और-और बातें करती रही—मसलन यह कि शहतूत कहीं-कहीं का बहुत अच्छा होता है और उसके ननिहालमें शहतूतका एक पेड़ था जिसमें अँगुलीके इतने मोटे और बड़े फल लगते थे। और सब इमिरती जैसे मीठे। और उस पेड़के पास

एक पीपलका बड़ा पेड़ था जिस पर ब्रह्म रहता था। राह चलतोंको परेशान करता था।

तभी लड़का आ गया। पीछे-पीछे एक छोटा लड़का था। अँगौछेमें आम बाँधे था। शकल रुँआसी हो रही थी।

स्त्री बोली, "खोल तो अँगौछा। मुँहझौंसे, गया था चोरी करने! तेरे बापका पेड़ है?...खोल अँगौछा।"

छोकरेने अँगौछा खोला। सात-आठ आम थे।

स्त्री बोली, "सब मेरे सेनुरिहवामें के हैं। क्यों रे? क्यों तोड़े यह सब?"

"मलकिन तोड़ा नाहीं। बीना है। सब बीनत रहे। हम भी चले गये।"

"सब कुँएमें कूदेंगे तो तू भी कूदेगा? बड़ा आया सबकी नकल करनेवाला! खबरदार, जो आजसे कभी भी फिर बगियामें दिखाई पड़ा। छोट-जाती है, छोट-जाती होके रह, नहीं तो खाल उधेड़वा लूँगी। कह देना बापसे जाकर।"

छोकरेकी आँखोंमें आँसू आ गये। अँगौछा उठाकर चल दिया। पीछेसे यह चिल्लाई, "अरे कलमुँहे, यह सब आम किसके लिए छोड़े जा रहा है! उठा इन्हें यहाँसे। भाग जल्दी। चल।"

छोकरा आम बाँध चल दिया।

उसके जाते ही स्त्री हँस दी। बोली, "जरासे में टेसुआ बहाने लगा। क्या करे बेचारा, डर गया। और भइया, सच्ची बात यह कि ये सब हमारे पेड़से बीन न खाएँगे तो फिर कहाँ आम पाएँगे? इनके कौन पेड़-पालव लगा है!"

फिर अचानक जैसे उसे ख्याल आ गया हो, झटकेसे बोली, "राम हो, मैं तो घर खुला ही छोड़ आई। किसीसे कह भी न आई, कुत्ता घुस गया होगा। चल रे, सब तेरे कारन हुआ। सबेरे वाला दूध ही रखा है तेरे आगेका। कौन खाएगा तेरा जूठा!"

फिर लड़केको आगेको धकेलती हुई पीछे-पीछे चल दी वह।

शोर खतम हो गया था, करवट बदलकर आँखें मूँद लीं। जरा-सी आँख लगी भी।

कच्ची नींदमें ही था कि—"सो रहे हो, भइया?"

उठ बैठा। लड़केकी फूआ फिर आई थी। एक हाथमें पत्थर की कूँड़ी और दूसरेमें डलिया। दोनोंको रख दिया और पुजारीजी का गगरा उठा चली गई बाहर। डलियामें आम थे और कूँड़ीमें अचार—कई किस्मके। खट्टी महकसे मुँहमें पानी भर आया।

गगरेमें पानी लेकर वह आई। रख दिया और बैठ गई। बोली, "ये अचार हैं परके सालके। फिर भी अभी सब ठीक बने हैं। और ये पक्के आम हैं हमारे सुगन्धी पेड़के। लो हाथ-मुँह धो लो।"

हाथ-मुँह धोने लगा और सोचने लगा कि खानेके लिए कोई आग्रह या अनुनय नहीं किया जायेगा। वह तो जैसे है ही। मुख्य बाधा बस हाथ-मुँह धोनेकी थी। सोचने लगा मैं कि यह स्त्री यदि विधवा न होती तो भी क्या इतनी स्नेहशीला होती? विधवाका ध्यान आते ही कथा साहित्यमें उसे दी जानेवाली सहानुभूतिका ध्यान हो आता है। एकदमसे उक्ति ध्यानमें आती

है—सूनी पगडंडीकी भाँति सिन्दूर-विहीन रूखी माँग ! दृष्टि अपने आप उसकी माँगपर चली गई। सनाका हुआ पर पुजारीजी से पूछनेके लिए चुप रहा।

गगरा खाली होते ही वह आम धोने लगी। बोली, "नींबू-वाला देखो, कैसा है ? इस गाँवमें किसीको नहीं आता बनाना।"

सुना-गुना था कि ब्राह्मण मिष्ठान्न-प्रेमी होते हैं। पर उस दिन जाना कि ब्राह्मण अचार भी खा जाते हैं यदि खिलानेवाला एक बार भी खानेके लिए न कहे तो। और आम तो सुगन्धी ही थे। छोड़नेकी सम्भावना नहीं क्योंकि उन सुगन्धियोंके खानेसे रंग भी गोरा हो जाता है और गला भी नहीं जलता—ऐसी खोजपूर्ण रिपोर्ट मुझे मेरी आतिथेयाने दी थी।

उसके जानेके बाद तुरन्त पुजारीजीसे पूछा, "लड़केकी यह विधवा फूआ माँगमें सिन्दूर कैसे लगाती है ?"

"यह उसकी फूआ तो नहीं है। यही तो उसकी मयभा माँ है। देखा नहीं आपने इस कर्कशाका व्यवहार ! कितनी झगड़ालू है !"

पुजारीजीको मैंने अविश्वाससे देखा कि मैं तो समझता था कि आप बुद्धिमान् होंगे। पर आप भी वही निकले कि एक ढूँढ़ो, हजार मिलते हैं !

उसके जानेके बाद मेरी इच्छा जानेको हो आई। खड़ी दोपहरी थी। पुजारीजीको अचम्भा हुआ, पर मैंने उनसे क्षमा

माँगी कि आज शाम तक जहाँ पहुँचनेका संकल्प है, वहाँ पहुँच पानेके लिए अभी चल देना आवश्यक है।

छाता झोला लिया और निकल पड़ा।

घाट पार किये। चलते समय जाने किस प्रकारका वज़न पैरोंमें महसूस किया। इस स्थानसे कोई मोह नहीं हो गया था। यहाँ रुकनेकी भी इच्छा नहीं हो आई थी। फिर भी पैर जल्दी-जल्दी नहीं उठते थे।

पूर्वके घाटके आगेके एक पेड़के नीचे जाकर खड़ा हो गया। पलटकर एक बार देखा। नाऊका मन्दिर, नये मन्दिर, खण्डहरोंके मन्दिर, कोनेवाले वृक्षके नीचेकी शिव-पार्वतीकी मूर्त्ति, घाटकी सीढ़ियाँ, तालका पानी—सब जैसे एक गहरी आत्ममूर्च्छनाके आधीन मिले। सब जैसे कहतेसे लगे कि आओ तुम भी हमारी भाँति इसी मूर्च्छनाकी सुराके तले पड़ रहो। कहाँ जाओगे ?

सुरंगके ऊपर-ऊपर चला। कहीं-कहीं सुरंग टूट गई है। जहाँ सुरंग खुली थी, वहाँ से अनुमान कर कि नदी कहाँसे किस ओर बहती होगी, आगे बढ़ा। टेढ़ेमेढ़े घूमकर बगिया पार की। आगे नदीकी रेखाके चक्करमें न पड़ा। सीधे पूर्वको दबाया। एक घर बड़ा सुदृढ़-सा दिख रहा था, छोटा, खपरैलसे छाया हुआ। उसीकी सीधमें, उसीको गंतव्य बना चला।

जेठका महीना—सब खेत कटे हुए। मेंड़ भी नहीं पकड़ी, सीधे नाप दिया। घर जितना निकट दिखता था, उतना था नहीं। घरके पूर्व ताल पड़ता है ताड़ी का। वहीं आकर मनोरामा नदी बनकर आगे बढ़ती हैं। यद्यपि आजकल पानी नहीं था।

घर तक आनेके पूर्व ही बीच सोईंमें खड़ा हो गया। छाता बन्द कर दिया। चुपचाप पाँच मिनट तक खड़ा रहा। हवा तो चल ही रही थी।

घाममें चलनेका एक अलग ही आनन्द होता है। इसे वही जान सकते हैं जो कभी इस प्रकारसे मीलों परती पड़ी धरतीमें से होकर खड़ी दोपहरीमें कहीं आये गये हों। चुप-चुप, चारों ओर। धूप सबको एक रंगमें रँगती हुई। नीचे धरती सपाट। कहीं भी एक पेड़ नहीं। चिड़िया नहीं, पसु गोरू नहीं, मानुस नहीं। ऐसेमें चुपचाप खड़े होकर महसूस करना कि यह धूप क्या कर रही है। ऐसे एकान्तमें रुचि ही बढ़ती है सहगामी मार्गके लिए। मार्ग भी शिष्ट नहीं—संस्कृत नहीं, बल्कि परतीमें खोया हुआ। अपार विस्तीर्ण वक्षप्रदेश। चुपचुप पड़ा धूप खाता हुआ मार्ग।

दोपहरीकी यह धूप और इस शक्लकी धूप, कुआरकी जुन्हाईसे कम आकर्षक नहीं होती है। दुपहरीके समयका जो सन्नाटा होता है, उसका जो आमन्त्रण होता है, जो चुप-चुपके संकेत होते हैं, वे अन्यत्र कहाँ सुलभ हैं ?

और दोपहरीमें छाता ताने या तौलिये से सिर ढके हुए आगे बढ़ते जाना भी अच्छा लगता है। उस समय जो एक एकात्मता वाली भावना होती है, व्यक्तित्वको बाँधनेकी जो एकरस डोरी होती है उसकी गहन गंभीरता कम महत्त्वसे पूरित नहीं होती।

पाँच मिनट तक लौकिक माध्यमोंसे अलौकिक सुख उठाता रहा। फिर आगे बढ़ा।

ताड़ीका ताल भी छोड़ा। नदीकी दिशा यहाँसे स्पष्ट थी।

उसीमेंसे आगे बढ़ा। थोड़ी ही दूर आगे दाहिने हाथ पर एक बगिया दिखी। विश्रामकी इच्छा हुई। चला गया। किनारे ही नीमका पेड़ था, उसीके तले कमरी बिछा, लेट गया। पाँच सात मिनट तो विश्रामकी इच्छा रही। फिर आलस्य लग गया। इससे पड़ा रहा। ऐसे ही एक घंटा निकल गया।

तभी देखा कि नदीके मार्गसे एक लड़का भागा चला आ रहा है। वही लड़का था, निकट आने पर देखा।

उसकी दृष्टि भी उठी और उसने मुझे देख लिया। तुरन्त घूम पड़ा। बगियामें जब आया तो हाँफ रहा था। चेहरा लाल हो रहा था। लगता था कि सुगन्धी आम खाते-खाते ही गोरा अधिक हो गया था। मैंने उसे बैठाया। पाँच मिनटमें ही वह पसीनेसे नहा उठा।

थोड़ा सुस्थिर हुआ तो पूछा मैंने, "कहाँ जा रहे हो?"

शरमाते हुए बोला वह, "आपके साथ ही चलूँगा।"

"नहीं, लौट जाओ।"

"देखिए, मैं यह लाया हूँ। आप खर्चेको न डरिये।" उसने दिखाया—दस-दसके कई नोट थे।

"तो तुम चुराके रकम लाये हो? जाओ अभी। लौट जाओ। ये सब बिगड़नेके लक्षण हैं। कोई जरूरत नहीं, कहीं भी घूमने जाने की।"

लड़का रुँआसा हो गया था। देखा कि उसके हाथमें एक गठरी भी थी। कपड़े बाँध लाया होगा। पूछा, "यह माईके बक्सेसे निकाल लिये हैं?"

उसने सिर हिलाया कि हाँ।

मुझे साथीकी आवश्यकता नहीं, फिर चेलोंकी तो कतई अपेक्षा नहीं। फिर इस लड़केके पास इतने रुपये हैं, घरसे चुराये हुए। बादमें चार भले आदमियोंको पता चले तो लांछन लगे। मयभाके स्नेह-बाणोंसे अलग बेधा जाऊँगा। इससे उसमे डाँटकर बोला, "यह कुछ नहीं। और बड़े हो जाओ, फिर घूमना चाहे जहाँ। तुम्हें कौन साथ-साथ टहलाये! जाओ, लौटो।"

उसकी आँखोंमें आँसू आ गये। तब दया आ गई। पुचकार कर पीठ पर हाथ फेरा। कहा, "तुम्हारी उम्रका था तो मैं पढ़ता था। तुम भी पढ़ लिख लो तो चार जने पूछने वाले हो जायँगे। जहाँ जाओगे इज्जत होगी, नहीं तो लोग कहेंगे कि भिखमंगा है, पेट पालनेके लिए घरसे निकला है।"

पुचकारके कारण वह सिसकियाँ लेने लगा। मैंने उसे पीछेको धकेला और स्वयं आगेको बढ़ा। छाता झोला टाँग लिया। वह बड़ी-बड़ी आँखोंसे निरुद्देश्य ताकता रहा। आँसुओंसे धुली आँखोंमें नैराश्य नहीं रहता, यही सन्तोष हुआ मुझे। आगे चला। बगिया छोड़ दी। नदी पथ पकड़ लिया। एक फर्लांग आगे जाकर पीछे घूमकर देखा—लड़का बगियासे बाहर खड़ा था, चुप-चुप। अधिक देख पानेका साहस न हुआ। करुण स्थलोंको, आँसुओंसे गीले क्षणोंको पारकर सकना बड़ा कठिन होता है। सबके बूतेका नहीं। मतलब यह कि प्रायः ही ऐसा होता है कि हम किसी परिचितको कष्टमें देखते हैं, पर उसे ढाढ़स नहीं बँधा पाते। उसके आँसू भी निकलते हों तब भी हम प्यारसे

उसे समझा नहीं पाते। रोक नहीं पाते। मनमें पूरी आकांक्षा रहती है कि उसे रोका जाय। अपना मन द्रवित भी रहता है, पर मजबूर रहते हैं, एक विशेष कलाके अभावसे। इसमें वे लोग सफल होते है जो निर्विकार निस्पृह होते हैं। यह निस्पृहता चाहे रस-हीनताके अभाव—जड़तासे होती हो चाहे अत्यधिक अनुभवी मन हो जानेसे निस्पृहता आ बसती हो उसके कारण ही मन विकारी न रह जाता हो। निस्पृह व्यक्ति जब अधिक शिष्ट होते हैं तो वे ही दुखी व्यक्तियोंको एकान्तमें समझा पाते हैं। मुझमें यह कला, यह क्षमता नहीं है। इसीसे फिर यह साहस न हुआ कि पीछे घूम कर देखूँ। आँखोंके आगे उसीकी तसवीर घूमती रही। उजली धोती-कमीज। बड़ी-बड़ी आँखें। अबोध जिज्ञासा।···आँसू भरी आँखें—

रघुबर सँग जाब हम ना अवधपुर रहिबै···

●●

५

# ठगिनी क्यों नैना झमकावै

जेठके महीनेमें गहरी-गहरी नदियाँ सूख जाती हैं तो फिर ये तो नदीकी प्रारम्भिक रेखा जैसी आकृति ठहरी। कहीं पर मालूम पड़ता है कि नदी बहती होंगी इसी मार्गसे, और कहीं सम्पूर्णतया विलुप्त हैं। जैसे यहाँ धान जड़हनके खेत ही हैं बस।

जिला गोंडा तालोंका देस मालूम पड़ता है। स्थान-स्थानपर ताल। हर गाँवमें पोखर। और गड़हियों जैसी शक्लके नहीं। जैसे श्रमसाधना करके तड़ाग खुदवाये गये हों, ऐसे ताल।

एक तालसे बैलगाड़ीकी लीक दक्षिणको निकली थी जो पूर्वको जाती थी, नदीके मार्गकी दिशामें। तालके बहाने नदीका मार्ग छोड़ना पड़ा तो इच्छा हुई कि इसी लीक-लीक चला जाय। जन-मर्यादित मार्गसे न चल, सीधे खेतों-खेतों, नदी-नदी चलना लोगों

की दृष्टिमें असामान्य बन मेरे प्रति आकर्षण उत्पन्न करेगा—इस बातकी लज्जामें पड़ गया और इसीसे डहरमें आ गया।

आगे एक बैलगाड़ी चली जा रही थी। उसके निकट पहुँचा तो गाड़ीवान सज्जनने उत्सुकतासे मुझे देखा। ग्राम सभ्यताकी सहज शैलीमें उन्होंने पूछ ही लिया, "कहाँ जाइएगा ?"

"उतरौला।" यह बड़ा कठिन पड़ जाता है कि सबको सच सच बताया जा सके कि कहाँ जा रहे हैं। इसलिए आगेके किसी स्थानका नाम दे देना ही ठीक मालूम पड़ता है।

"उतरौला ? आज पहुँच पाइएगा ?"

"रात कहीं रुक जाऊँगा। जहाँ रात तहाँ बिहान। कल पहुँच जाऊँगा।"

"आइए बैठ लीजिए। कुछ दूर मैं ही पहुँचा दूँ।"

बैलगाड़ी पर बैठना बहुत आनंदप्रद नहीं होता किन्तु यात्री को इस प्रकारके मौके नहीं छोड़ने चाहिए, इस विचारसे उस पर बैठ लिया। और चूँकि बैठने पर धन्यवाद कहना आवश्यक था, इसलिए पूछा, "आप यहींके रहनेवाले हैं ?"

सोचता हूँ कि धन्यवादका एक शब्द कितना अच्छा है! किसीके प्रति शिष्टाचारमें एहसान मंद होना हो तो धन्यवाद कह दीजिए। और यदि सचमुच किसीके प्रति मन कृतज्ञतासे भुक उठा हो तो भी, मुस्करा कर धन्यवाद कहिए।

पर यह हमारे अवधका कायदा कि धन्यवादका भाव प्रकाशन करनेके लिए आप किसी व्यक्तिसे कमसे कम आधा घंटा बात कीजिए—प्रेम दिखाइए,—बड़ा मँहगा पड़ता है।

हाँ तो, इसी प्रकारका धन्यवाद देनेके लिए मैंने उनसे बातें शुरू कीं। उनके सम्बन्धमें इधर-उधरकी पूछता रहा। बात-चीतमें वे बड़े सरल मालूम दिये। जातिके ठाकुर हैं। बस्ती जिलेमें ट्यूब-वेलकी ठेकेदारी ले रखी है। काफी रुपया कमाया है। आज जा रहे हैं, बहिनके यहाँ, दस हजार रुपया लेकर। बहनोई ट्रक ड्राइवर हैं। उनसे राय लेकर ट्रक खरीदनेकी व्यवस्था करेंगे जिससे फिर आमदनी और बढ़े।

मैंने कहा, "ठाकुर साहब, एक बात कहूँ। राह चलतोंसे यह बता देना कि अपने पास इतने रुपए हैं, कोई अच्छी बात नहीं है। पता नहीं···"

उन्होंने बात काट कर कहा, "मैं राह चलतों को तो नहीं बता रहा हूँ। आदमी देखकर बात करता हूँ। आपके चेहरे से जान लिया कि आपसे कोई खतरा नहीं है, तब आपको बताया।"

उनके कहने में, लोगों का चेहरा देख कर पहचान लेने की शक्ति का जो आत्मविश्वास प्रकट हो रहा था, उसे झूठा सिद्ध कर देने के लिए मन में हुआ कि कुछ करतब दिखा जाऊँ। पर ठहरा यह परदेस। अपना जवार होता तो शायद दो जवानों को इशारा कर ही देता।

बात-चीत के ही प्रसंग में उनको मैंने बताया कि भाई, मैं रुपया पैसा लेकर चलने में डरता हूँ। शहर की बात और है, पर यहाँ देहात में तो दस रुपया भी साथ लेकर नहीं चलता। कोई पकड़ कर दो हाथ मार छीन ही ले तो क्या कर सकते हैं?

बैलगाड़ी बहुत धीरे-धीरे घच-घच चलती है। हमारी और ठाकुर साहबकी बात-चीत जब तनिक विश्राम पर आई तो मैं लेट गया। नीचे गोनरी-पुआलकी बनी दरी-बिछी थी। झोलेको सिरके तले रख लिया। आँखे मूँद लीं।

दृष्टिको जब विश्राम दिया जाता है तो इस इन्द्रियकी शक्ति जैसे स्पर्शेन्द्रियमें आ जाती है। अभी तक लगने वाले घचकोलोंको मैं इतनी निकटतासे नही बूझ पा रहा था, जितना अब महसूस करने लगा। इधर···उधर···घच-घच···घच···घच···घच···खिच खिच···घच···

ठाकुर साहबको जाने क्या सूझा कि इस कुबेला ही धीरे-धीरे तान छेड़ दी—

निबिया क पेड़वा जबै नीक लागै···
हाँऽऽ·····
जबै नीक लागै···
कि जब निबकौरी ना होय···
हाँऽऽ···जब निबकौरी ना होय···
अच्छा धोबिया जबै नीक लागै···
कि धोवै बगुल कै पाँख...
हाँ मालिक, धोवै बगुल कै पाँख···

हिलती हुई धीरे-धीरे चलती बैलगाड़ी, गाड़ीवानका आलाप और उसमें पड़ा मैं आँखें मूँदे।···अब तो वह उमर बीत गई नहीं तो इस स्थल पर देवदासका ख्वाब देखता। लगता कि जैसे मैं देवदास ही हूँ। और बिना मतलबके ही मनमें एक भार सा

महसूस करता और उसीमें हृदय आकुल हो हो आता, बार-बार। ये रोमैंटिक ख्वाब भी! शायद इन्हींके 'हाल' में गीतकार गीत लिखते हैं।

उठ कर बैठा तो देखा कि पीछेकी ओर एक आदमी गाड़ीके पीछे-पीछे चला आ रहा था। काला रंग, कंधे पर लाठी और बड़ी बड़ी कोइली आँखें। देख कर भय लगा। मुझे बार-बार घूर रहा था।

थोड़ी ही देरमें सड़क आ गई। गोंडासे बलरामपुर जाने वाली। यहाँसे ठाकुरको दाहिने घूम जाना था, यानी गोंडाकी ओर। मुझे सीधे जाना था। मैं उतर गया। ठाकुरने धोतीकी फेंट कसते हुए कहा, "अच्छा पंडित जी, पालागी।"

मैंने झोला सरकाते हुए कहा, "जय हो," और मनमें जोड़ा, "हमारे ठेंगे से!"

यह टिप्पणी मेरे मनने उनके व्यवहारकी अमार्जितताके ही प्रति सोची थी, अन्यथा उनके प्रति मैं अत्यंत कृतज्ञ था। यों भी वे अच्छे लगे ये। सीधे, सरल, भले।

गाड़ीके तनिक ही आगे बढ़ने पर लाठी वाला काला आदमी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। अत्यंत रूखी आवाजमें बोला, "यह ठाकुर आपका पुराना दोस्त है?"

शायद कोई और मौका होता, पूछने वाला इतना भयानक न होता तो मैं यह महसूस करनेका नाट्य करता कि व्यवहारकी

इस प्रकारकी अभद्रता उत्तरमें मेरे मौनकी ही अधिकरिणी है। पर यही क्या कम शुक्रकी बात है कि उसका प्रश्न सुनकर मेरी घिग्घी नहीं बँधी। इससे बड़े नम्र घरेलू ढंगसे कहा, "नहीं भाई, यह तो अभी यहीं मिले थे। कृपा कर मुझे भी अपनी गाड़ी पर बिठा लिया। मैं तो डगरोही हूँ। मेरा उनसे कौन सा वास्ता!"

"अच्छा तो, हो तकदीरके सिकन्दर।"

प्रश्न भरी दृष्टिसे उनकी ओर देखा कि यह क्या कौतुक?

"बच गये इसकी पकड़से, नहीं तो यह जिसको एक बार धरता है, कपड़ा लत्ता उतरवा कर रखाय लेता है। ऐसी टोह लेता है कि पता ही नहीं चलता।"

खिसिया गया मैं। भय ऐसा लगा कि जैसे अभी-अभी कोई रेलगाड़ी धड़धड़ाती हुई मेरे सामनेसे ही गुजर गई हो। कहनेके लिए कहा, "हमारे पाससे क्या लेता! खाली हाथ झूरी झोरी लेकर चलता हूँ।"

वह मुस्कराया। बल्कि कहूँ कि दाँत भी खिले जिनमें छाया थी कि बच गये तो चाहे जितनी बातें बना लो।

अवसन्न मन लिये खड़ा रहा। यह सही है कि मेरे पास कुछ न था फिर भी यदि वह घड़ी, छाता, धोती, कमीज, झोला आदि ही ले लेता तो इस परदेसमें विपन्नावस्थाकी कैसी मूर्त्ति अवस्थित होती—कोई कल्पना नहीं।

भयसे निकल आने पर मनमें एक उल्लास सा आ समाता है। पर यह भी होता है कि भयसे निकल आने पर भी भयका माहौल साथ लगा चला आता है जो डराता है, कँपाता है और चार

जनोंकी भीड़ अपने चारों ओर लगवा लेता है। जहाँ इस भीड़की सुविधा नहीं होती—भयके कारणकी नम्रता होनेके भय से अथवा भीड़के अभावसे—वहाँ व्यक्ति किसी सहारेसे बैठ जाता है। वहाँ चार जनोंकी भीड़का सहारा था। यहाँ बेंचका, रिक्शेका, बसकी सीटका सहारा होता है।

हारे मन धीरे-धीरे आगे बढ़ा था। गाँवकी विभाजक रेखाओं की पहिचानके लिए जो पत्थर गड़ा होता है वही उखड़कर करवट पड़ा था। उसीपर बैठ गया।

उस दिन वहाँ बैठे-बैठे इस बातका साक्षात् किया कि मनकी एक संवेदना किस प्रकार दूसरीपर प्रभाव डालती है। यों कि, पूरबमें कहींसे भटककर कुछ बादल आ गये थे। शाम तो नहीं हुई थी पर किरनोंकी गर्मी हल्की पड़ गई थी। सामने ही छोटी लाइनकी लोहेकी पटरियाँ थीं; गोंडासे गोरखपुर, बढ़नी होकर जानेवाली लूप लाइन।

एक मालगाड़ी उत्तरसे दक्खिनको जा रही थी। धीरे-धीरे चलती गाड़ी और पृष्ठ आकाशपर उजले, बगुलीके पंख जैसे, बादलोंकी छाप। सामने दूर तक फैली पड़ी सोई। जैसे खुले धुले निर्मल आकाशमें बलाकाका दर्शन करे—एक लाइन बनाकर जाती हुई कँड़ाकुल चिड़ियाँ। धीरे-धीरे रेंगती हुई गाड़ी। दूरसे बिलकुल बच्चोंके खेल जैसी छोटे-छोटे डिब्बोंकी यात्रा। इंजन यदि धुआँ फेंकता है तो धुएँका फैला हुआ रूप नहीं दिखता। बल्कि वह भी स्पष्ट एक काली रेखा का रूप धारण कर अनन्त आकाशमें अपना अस्तित्व स्थिर करता है।

गाड़ीकी झकझक या और कोई शोर बिलकुल नहीं सुनाई देता। चतुर्दिक शान्तिका प्रसरण। फिर भी धीरे-धीरे गाड़ीका आगेको खिसकना। गति है पर गतिसे उत्पन्न ध्वनि नहीं। सामनेकी ओर तारके खम्भोंकी लाइन। लाइनके किनारे ही सरपतकी झाड़ियाँ, उनकी झूमती मचलती पत्तियाँ।

बरसातका मौसम होता तो यह सब और अच्छा लगता। पर जो है, वही क्या कम है।

मनमें भयकी संवेदनाके ऊपर धीरे-धीरे कैसे इस दृश्यकी पवित्र अनुभूति आ गई; इसका बिलकुल सूक्ष्म दर्शन उस दिन किया। यों हमलोग हर तरहकी संवेदनाओंमें अच्छी तरह डूब जाते हैं। पर यह भी प्रायः हर समय होता है कि डूबे हुए भी हम उसे अच्छी तरह, अलगसे, अनासक्त होकर देख लेते हैं, समझ लेते हैं। तटस्थ निर्विकार होकरके अपने ही रससिक्त विकारी मनकी लीलाएँ देख पानेकी जो बौद्धिक प्रक्रियाकी विशेषता पाई है, वही है जो अहंके प्रसारकी वासनाको तुष्टि देती है—अर्थात् इस लेखनकी जननी वही है।

इस तरह बैठे-बैठे सीन-सीनरी देखते रहनेसे ही काम न चलेगा, इस बातको जब एक झटकेमें ले पाया तो उठकर चल दिया। मेंड़-मेंड़ घूम-घामकर रेल लाइन तक पहुँचा। थोड़ा उत्तर की ओर एक छोटी-सी पुलिया दिखती थी। अन्दाजसे जाना कि इधरसे ही नदी आई होंगी। दूर से दिखाई नहीं पड़ता था, शायद यहाँ भी नदीमें पानी नहीं था।

रेलवे लाइन पार की। उस पार कुछ दूर मेंड़-मेंड़ चलनेके

बाद इच्छा हुई कि अपने सोचे मार्गपर चलूँ। पर सामने ही एक चौड़ी मेंड़ दिखी—सपाट समतल। उसे छोड़ न पानेका लोभ संवरण न कर पाया। इसका एक कारण और था।

तिरछी धूपमें पीले रंगकी एक साड़ीका हवासे फरफराना बड़ा भला लगा। हवा दखिनही बह रही थी, धोती उत्तरकी ही ओर फहर रही थी। जाने उस पीताम्बरमें कौन था ? बाला, तरुणी···

अब तो वह उमर पार निकल गई कि इलाहाबाद जाते समय प्रतापगढ़के पहिले ही चलती गाड़ीमें से धानके हरे-हरे खेतोंके बीचमें, गुलाबी रंगकी धोती पहिने, हाथमें मिट्टीके तेलकी बोतल पकड़े जाती हुई आकृति इतनी अच्छी लगे कि अगले स्टेशनपर ही उतर जाऊँ और उन खेतोंकी ओर चल दूँ। पर फिर भी यह कैसे कह दूँ कि अब यह सब अच्छा नहीं लगता। कैशोर आयुमें कुछ अच्छा लगना, अवश्य ही अधिक तीव्र संवेदनात्मक होता है, तथापि तारुण्यका अपना तकाजा होता है। चौदहसे अठारह वर्ष की अवस्थाके बीच हर गुलाबी निगाहके आकर लगनेके बाद मनमें होता है कि अब गये, अब गये। लहराता पल्लू देख शहनाईकी आवाज सुनाई पड़ती है और सुन्दरी के चरण चिह्नोंपर लिलीके फूल खिले दिखाई देते हैं। पर बीसकी उम्र पार करते-करते मजबूरीका ब्रह्मचर्य मनकी तीव्र संवेदनात्मकताको पी डालता है। और तब सुन्दरी अच्छी लगती है केवल इस कारण कि अच्छी लगनी चाहिए। कोई झकझोर कर उससे अपने आप नहीं कहलवा देता कि आह, इस लड़कीके जूड़ेमें मैं जवाकुसुमका एक फूल लगाना चाहता हूँ या इसके पैरकी अँगुलियोंको चटखाना चाहता हूँ।

फिर भी उस दिन कनैलके फूलोंके रंगकी उस पीली धोतीको देख मैं भी चौड़ी मेंड़ पर हो लिया, यह मनके ही कहनेसे।

उसके साथ-साथ कोई और भी था। वे बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे। अच्छा ही था। उन तक पहुँचना सरल था। शीघ्र सम्भव था।

प्याससे गला सूख रहा था। आगे ही एक पुरवा दिख रहा था। सोचा कि वहाँ पानी पिऊँगा।

मेरी चालमें कुछ तेजी आ गई थी। अकस्मात् मनमें एक बात उठी। यह जो मैं तेज चल रहा हूँ, किसलिए? चौराहे पर लगी भीड़को देख कर हम तेजीसे उधर बढ़ कर भीतर झाँकते हैं कि क्या हो गया? दुर्घटना? क्या यहाँ भी इसी मूलसे प्रेरित था कि उस पियरीमें कौन है, कैसा है? नहीं, पीत वस्त्र इतनी जिज्ञासाका उत्पादक नहीं हो सकता। शायद यह देखनेकी अभिलाषा हो कि उस पाण्डुरवसनाकी निगाहोंका कोण क्या रहता है। पर मान लो कि उसका कोण तिरछा रहता है तो भी क्या प्राप्त हो जायगा?

मेरे मनमें साधुओंवाला वैराग्य नहीं आया। बल्कि सीधे-सीधे यह शङ्का उठी कि यदि वह सुन्दर भी हो तो उससे क्या होता है! वह कोई चित्र तो है नहीं कि गये प्रदर्शनीमें देख आये और प्रसन्न हो लिये कि एक अच्छी कृतिको देखनेका सुयोग मिला—हम एक आनंदके भागी हुए। नारी-सौन्दर्यको इतने अनासक्त भावसे देख पाना सम्भव नहीं है। फिर हम नारी-मुखमें देखते क्या

हैं ? हम केवल मुख देखते हैं या सम्पूर्ण देहकी आकृति ही हमारी दृष्टिमें आ जाती है ? और उस सबमें भी हम देखते क्या हैं ?

इस समय—लिखते समय—ऐसा लग रहा है कि जैसे किसी विद्यार्थीको कोई निबंध दिया गया हो और वह अपने विषय पर हर दृष्टिसे—क्या, क्यों, कैसे—जिज्ञासा कर करके सामग्री इकट्ठी करता है, वैसे ही मैं भी प्रश्न और शंकाएँ करनेके लिए यह सब प्रश्न उठा रहा हूँ। किंतु उस समय मैं अपनी ही प्रवृत्तिके विश्लेषण पर लगा था। इससे हर सूक्ष्मतम बातका मुझे स्मरण है। मेरे मनमें जितनी भी शंकाएँ उठी थीं, सब अपने आप उठती हैं। और मेरे ही क्या बहुतोंके उठती हैं। और उसी शैलीमें आती हैं जिस प्रकार मेरे मनमें आई थीं या आया करती हैं।

वास्तवमें यह प्रायः ही मनमें उठा करता है कि एक छोटी बच्चीके प्रति हम जिन भावोंसे आकर्षित हुआ करते हैं, उसी बच्ची के बड़ी हो जाने पर हमारे मनके भावोंमें जो परिवर्तन आता है वह क्यों ? वह क्या है जो आकर्षणका मूल है ? उम्र ? और उस आकर्षणके पूर्व भागमें देहका—रूपका महत्व होता है और उत्तर भागमें किस चीजका महत्व हो जाता है ? हमारे मनकी भोगवाली जो प्रवृत्ति होती है—वह किस रूपमें प्रसरण चाहती है ?

मिठाई मीठी होती है, जीभको अच्छी लगती है, हम उसे खाकर सन्तुष्ट होते हैं। स्त्री सुन्दर होती है, देखनेमें अच्छी लगती है, उससे तुष्टि किस रूप में पाई जाती है ? हमारे मनको, शरीरको हर ओरसे झँझोड़ देने वाली यह जो प्यास होती है, यह

स्त्रीको पीनेसे जाती है क्या ? पिया कैसे जाता है ? पीनेसे प्यास जाती है या न पीनेसे ? पीना क्या सुलभ ही है ?

मायने यह कि यह जो मैं नारीमूर्त्ति देख रहा हूँ, जिसके लिये मेरी चालमें तेजी आ गई है, उसके इस क्षणिक दर्शनसे ही तो प्यास जाती नहीं और पूरा पैमाना भरकर पीनेको मिलेगा—इसकी कोई संभावना नहीं। फिर यदि उसकी भी संभावना हो जाय तो वह क्या होगा. जो समस्त आकर्षणका केन्द्र विन्दु है ? क्या यह देह ही है वह सब कुछ ? देहके ही एक-एक भागको पा जानेकी हविस होती है हमारे मनमें ?

नारीकी यह देह तो वितृष्णा उत्पन्न करती है। नारीकी नग्नता तो कभी आकर्षित नहीं कर पाती। उससे तो मनको घृणा सी ही होती है। जभी तो नारीकी देहको शुरूसे ही ढँक तोपकर उसे आकर्षक बनाया जाता रहा है। उसे ऐसे गोल, फैलावदार कपड़े पहिनाये जाते हैं हर देशमें, कि उनमें उसका शरीर कमसे कम खुला रहे ताकि वह आकर्षक लगे। ज्यों-ज्यों उसकी पोशाक पुरुषोंकी कसी पोशाकमें आनेकी कोशिश करती है, उसका आकर्षण कम होता जाता है। लँहगा या साया पहिनने वाली स्त्री जितना आकर्षित करती है, पतलून या जाँघिया पहिनने वाली नहीं। चित्रोंकी बात नहीं करता हूँ क्योंकि मूर्त्ति, फोटो या चित्रमें स्त्रीकी नग्नता आकर्षणका केन्द्र नहीं होती है। वह होती है कलाकारकी दृष्टि जो साकार रूपमें सम्मुख आ हमें आकर्षित करती है। नग्न स्त्री मनमें कभी आकर्षण नहीं उत्पन्न कर सकती। हाँ, आकर्षित करती है तब, जब हमारी आँखों पर चश्मा रहता है। तब हम

हम नहीं रहते हैं। तब हमारे पास जो चश्मा होता है, उसीसे हमें हर चीज अच्छी दिखायी देती है। वह आकर्षण कामके चश्मेमें होता है—नारीकी नग्न देह यष्टिमें नहीं। नग्नताकी प्राप्तिका अभीष्ट भले ही आकर्षणके भ्रममें हमें डाले रहे किन्तु स्वयं नग्नता तो आकर्षक नहीं।

प्रायः ही लोगोंको बड़ी सतृष्ण निगाहोंसे स्त्रियोंकी ओर देखते देखा है। ब्याह शादी तय होते समय इस प्रश्न पर बहस मुबाहसे सुने समझे हैं कि यह लड़की सुन्दर है यह नहीं। संस्कार वश या प्रवृत्ति वश सौन्दर्यको निर्निमेष निहारा भी है। तृष्णा भी महसूस की है। और यह सोचा है कि यह सौन्दर्य भोग्य होता है अथवा स्त्री? स्त्री मात्रकी देह तो शायद एक जैसी ही होती है। फिर उसी एक जैसेके होनेमें ही वह अंतर क्या हो जाता है जो एकको अधिक भोग्य और दूसरीको कम भोग्य बना देता है? यह सौन्दर्य तो दृष्टिसे परखा जाता है। देख कर बताया जाता है कि दिखनेमें कौन अच्छा लगता है कौन नहीं। तो फिर केवल देखनेमें ही दो स्त्रियोंमें अंतर होता है अन्यथा वे एक जैसी ही होती हैं? और यदि ऐसा है तो हमारे मनकी तृष्णा मात्र नेत्रोंकी तृष्णा होती है, क्या? भोगनेकी तृष्णा भी कई स्तरोंकी नहीं होती, वह एक तल पर ध्रुव रहती है सदैव?

अंतमें इन सबमें उलझ यही स्वीकार करते हैं कि यह सब मन की लीलाएँ हैं इन्हें समझ पाना सरल नहीं। और निराशाके क्षणोंमें—श्रद्धाके पलोंमें यहाँ तक सोच जाते हैं कि इन्हें समझनेकी आवश्यकता भी नहीं है।

मनके तर्क-वितर्कसे चरणोंकी गति शिथिल हो आई। फिर भी उन दोनों राहियोंकी अपेक्षा तेज ही रही क्योंकि वे थोड़ा-थोड़ा निकट होते गये। पुरुष वृद्ध लग रहा था क्योंकि उसीकी चालसे लाचारी टपक रही थी। पीछेसे उम्रका अंदाज मिलनेका कोई सही तरीका तो था नहीं।

पुरवेके निकट पहुँच फर ही उन दोनों राहियोंके पास मैं हो सका। आगे-आगे वृद्ध महोदय चल रहे थे, डंडा टेकते हुए। पीछे वह थी।

स्त्रियोंके पीछे चलना न प्रतीक रूपमें ही अच्छा है न व्यावहारिक रूपमें ही। इससे मेंड़से उतर आगे बढ़ा। चूँकि महिलाके प्रति बड़ी देरसे 'कांशस' था, इससे दृष्टि सीधी किये चला गया। पाससे निकला तो ऐसा लगा कि जैसे उसने मुझे देखा हो। कोई महत्वपूर्ण बात नहीं। दूर तककी निर्जनतामें अकस्मात् कोई व्यक्ति प्रकट होकर बगलसे निकले तो साधारण औत्सुक्य ही नजरें उठवा देता है। वृद्धके भी आगे हो लिया और फिर चाल काफी तेज कर दी।

जब तक पुरवे पर नहीं पहुँचा बराबर मनमें यही बात घूमती रही कि अब वह मुझे घमंडी सोच रही होगी या बड़ा शिष्ट भी समझ सकती है। शायद उसे हँसी ही आ गई हो, मेरी तेज चाल देख कर।

पुरवे पर बाहरकी ही ओर एक कुआँ था। उसके पास ही

एक चौकी बनी थी, पक्की। जगत भी अच्छी, ऊँची, पक्की थी। उसी पर बैठ गया। अपने पास लोटा था, डोरी नहीं। सोचा कि कोई इधर पानी भरने आवेगा तो माँग ली जायगी।

दिन कम ही रह गया था। सोचा कि कोई आश्चर्य नहीं कि आजकी रात इसी पुरवे पर ही बीते। झोला-छाता ठीकसे उतार कर रख दिया।

सामने आनेवालोंको अब साफ तौर पर देख पाया। स्त्री रही होगी अठाइस सालकी। छोटे कदकी गोरी महिला थी। हाथमें झोला था। पुरुष उसके पिता रहे होंगे।

वे दोनों जल्दी ही आ गये। वृद्ध मेरे पास ही बैठ गये। स्त्री सामनेकी ज़मीन पर बैठ गई।

अब स्त्रीको एक दृष्टिमें भर नजर देखा। पतले ओठ। भूरे रंगकी पुतलियोंवाली छोटी-छोटी आँखें। छोटी-सी पतली नाक। और मूँछों पर हल्के-हल्के सुनहरे रोएँ। ऊपर धोतीके पल्लेमेंसे दो-चार लटें बाहर झाँक रही थीं, सुनहली। स्त्री अच्छी, भली लगती थी। ओठों और चेहरेकी बनावट ऐसी थी कि मुस्कराने पर अच्छी लगे खास कर यदि ओठोंको टेढ़ा करके हँसे तो। जिस दृष्टिसे उसे देखा था, उसीमें उसकी दृष्टि भी देखी।

वृद्धने पूछा, "कहाँसे आते हो भइया?"

"तिर्रोमनोरामाके तालसे।"

"कहाँ जाओगे?"

"जाना तो बड़ी दूर है। बस्ती जिले तक। सोचता हूँ कि आज रात यहीं टिक जाऊँ।"

स्त्री बड़े ध्यानसे ये बातें सुन रही थी। झोलेमेंसे डोरी निकालते हुए बोली, "घर यहीं है भइया ?"

"ना। बस्तीमें है। यहाँके लिए अनजाना हूँ।"

गई, कुएँसे पानी भरने लगी। कुएँ परसे ही बोली, "पानी पियो भइया।"

मैंने कहा, "पियो। बादमें भर लूँगा।"

"हमारे भरनेमें क्या हर्ज है ! पियो।···बाम्हन हो न ?"

"हाँ।" मैं लोटा निकालता बोला।

वह बोली, "बाबू, वहीं लाऊँ या यहाँ आओगे ?"

पिता बोले, "हिंया ले आ।"

वह लोटा भर ले आई। मैं कुएँ पर गया। अपना लोटा भरा और मुँह धोने लगा। हँसी आई कि मेरे वास्ते पानी भरनेके लिए तत्पर महिला पिताप्रेमके वशीभूत हो गई। उसकी अपने पितासे होती बात सुनने लगा, "···बाबू, अच्छी तरहसे गला धोय डालो। बड़ा पसीना भया है। आँख पर भी पानीके छींटे दे लेना—जुड़ायेंगी। बड़ा तेज घाम रहा।···"

मैं दूसरा लोटा भर रहा था तो वह बोली, "मीठा ले लेना भइया। यों ना पीना।"

फिर वह झोलेमेंसे कुछ निकालने लगी। शायद मीठा।

पिताको देनेके बाद जब वह मेरे लिए गुड़ लाई तो उसके भावको देख लगा कि—

अवध प्रान्तसे दूर ही दूर रहा हूँ, इसीलिए यह सब ऐसा लगता है, नहीं तो यदि यहीं रहा होता तो यह सब शायद

परिचित, सामान्य सा लगता। सापेक्ष रूपमें न देख पानेसे सब दैनिक साधारण लगता।

हाँ तो, उसके भावको देख लगा कि जैसे अपने गाँव घरकी बहिनें बोलती हैं, वैसे ही बोल रही है। बातोंका वही आग्रही स्वर। शब्दोंमें, सम्बोधनमें, वही साम्य।

कुछ होती हैं व्यवहारकी रूखी। लगता है कि अपरिचयकी सीमामें बँधी हैं। पर कुछ एकदमसे अपनेको हर जगह घरेलू बना लेती हैं। अवध ग्रामकी यही अभिजातीयता है। अवधके बाहरकी अभिजात्य महिलाएँ होती हैं तो अपनेको परिचितिके खुलेपनमें तो आने देती हैं किन्तु सम्बन्ध स्थापनकी शीघ्रता उनमें नहीं होती। वे बात भी करेंगी, चायके लिए भी पूछेंगी, बाजार भी साथ-साथ चली जाएँगी पर सम्बोधनमें, बातकी शैलीमें, निकट संवेद्य अनुभूतियोंकी सहभुक्तिमें दूर-दूर रहेंगी पर हमारे ग्राम अवधकी अधिकांश स्त्रियाँ तुरन्त ही दीदी, माँ, काकी, फूआ, आजी बननेको प्रस्तुत रहेंगी। विशेष कर जो अभिजात्य हैं वे तो सदैव ही परिचयके नैकट्यके सम्मुख समर्पित रहेंगी। जो नीचेसे उठती हैं, नीचेकी होती हैं, उनमें दूरी ही दूरी—स्पष्ट दूरी होती है।

जब उस स्त्रीने कई बार सम्बोधनोंमें निकटता दिखाते हुए मुझे भइया कहा तो मनमें ललक उठी कि यह भी मेरी दीदी होती। इच्छा हुई कि इसे दीदी कहूँ।

जब हम दिलके खुले हैं तो सम्बोधनोंमें ही क्यों मौन रहें? और जो दिलके खुले नहीं हैं तो भी सम्बोधनोंकी पवित्रता निक-

टता द्वारा क्यों न मनको साफ करनेकी चेष्टा करें! एक न एक दिन हमारा मन निष्कलुष होकर रहेगा। और यदि न भी हो तो भी उसको छिपाकर रखनेमें क्या हर्ज है!

भाई-बहिनोंके स्नेह. पिता-पुत्रीके स्नेहके बीच भी सेक्स ही होता है। पर यदि हम इस तथ्यका विज्ञापन करते चलें, सत्य के भक्त होकर चलें तो कोई आश्चर्य नहीं कि उनसे सेक्स सम्बन्ध स्थापित ही कर बैठें। किन्तु सम्बोधनोंकी पवित्रता, संस्कारों द्वारा बाधित सम्बोधनोंकी पवित्रता हमारे यहाँ पिता-पुत्री और भाई-बहिनके बीच लिंगीय सम्बन्ध स्थापित होने देनेमें रोकती है। यदि कहीं नहीं रुकता है तो वह संस्कारोंकी अप्रबलता ही होती है।

तो, जिस स्त्रीकी पीली धोतीपर अभी-अभी मैं आसक्त हो चुका हूँ, वह यदि अवसर देती है तो क्यों न मैं उसे दीदी रूपमें ही ग्रहण करूँ!

आसक्तिमें लोभ होता हे। लोभकी कोई सीमा नहीं होती। लोभी मन सभी रंगोंकी धोतियोंपर आकर्षित होगा। असीमित इच्छाएँ वासनाएँ ही हमारे दुखका कारण होती हैं। इस असीमित लोभको बढ़ने देनेसे ही हमारा दुख क्लेश दूर रहेगा। दुख यों होता है कि हम असीमाके कारण विस्तारमें चलते-चले जाते हैं। विस्तृत चीजें सम्बल नहीं रख पातीं, आधार नहीं बना पातीं। इसी सम्बल-हीनताकी स्थितिका दूसरा नाम अनास्था है। यह अनास्था कभी भी, किसीको सुख दे पाई है क्या?

पर सीमा रहनेपर हमारी गति—हमारी संवेदना एक विन्दु पर ही स्थिर रहती है। इसीसे वहाँ गहराई होती है। गहराईका

विश्वास, विश्वासकी आस्था होती है। आस्था ही है वह जीवन बूँद, वह अमृत, जिसपर हम टिके हैं।

जब उसने गुड़ मेरे हाथपर रख कहा, "ऐसा ही है, भइया, अच्छा नहीं।"

तब उसे एक बार 'दीदी' सम्बोधनसे बुला लेने ही के लिए मैंने कहा, "इतना काहे दे दिया, दीदी! बहुत है।"

दीदी मुस्कराईं। ठीक उसी ढंगसे, ओठ तिरछे करके, जैसेकी मैंने इच्छा की थी कि यदि यों हँसें तो अच्छी लगेंगी।

कुछ व्यक्ति पहिले सम्पर्कमें आते हैं तब धीरे-धीरे अच्छे लगने लगते हैं। कुछ पहिले ही अच्छे लग जाते हैं, पीछे सम्पर्कमें आते हैं।

दीदी पानी निकालते हुए बोलीं, "बड़ा अच्छा पानी होता है इस कुएँका।"

उन्होंने अभी तक तो पिया था नहीं, इससे पूछा मैंने, "क्या पहिले भी कभी पी चुकी हो इसका पानी?"

"यही बगलमें ही तो गाँव है हमारा। रोजका आना-जाना।"

पानी पीकर मैं वृद्धके पास जा बैठा। पूछा, "बाबा, गये थे लड़कीको विदा कराने?"

"मैं भइया? नहीं। यहीं पासमें ही इसकी ननिहाल है। आजकल इसकी माँ वहीं है। वहाँ कुछ लोग बीमार थे, उसीमें गई थी। सो आज मैं भी गया था हाल चाल लेने।..."

मैंने अपनी ओर से बात पूरी की, "तो सोचा कि इन्हें भी लेता चलूँ! क्यों?"

"नहीं-नहीं, भइया। इसे तो साथ ही ले गया था। बात यह है भइया कि बुढ़ौतीकी देह है। कुछ सूझता नहीं। और मैं हिंसा से बहुत डरता हूँ। आते-जाते राह बाट चींटी-चींटेके ढूह पर पैर पड़ जाय तो बहुतसे चल बसेंगे। जीवहत्याके पापसे बचनेके लिए इसे साथ रखा कि बताती रहेगी राह देख कर कि कहीं चींटियाँ इकट्ठी तो नहीं हुई हैं।"

दीदीने बापके झूठमें संशोधन किया, "और भइया, बात यह भी है कि आते-जाते बेर-सबेर हो जाय, जाने कैसा शरीर रहे, साँझ सबेरे अच्छी तरह उजाला होनेके अलावा और कभी आँख से दिखता नहीं। इसीलिए चली आई कि मदद रहेगी।"

"और कोई नहीं है, भाई—भतीजा ?"

क्षण भरको दीदीका चेहरा संध्याकी भाँति मलिन हो आया जिसके लिए मुझे मनमें दुख हुआ कि अरे मैं क्या पूछ गया ? फिर जैसे वे सुस्थ हो आईं। बोलीं, "कोई नहीं। मैं बाबूकी अकेली हूँ।"

अचानक फिर एक धृष्टताकी बात मनमें आई पर जाने कैसे चुप ही रह गया। सोचा कि पूछूँ, "तुम्हारे लड़के—बाले ?" पर यही बात कुछ घूम कर निकल ही आई मुँहसे, "तब तो अभी जाकर इस जूनका भोजन पानी भी करना होगा ?"

दीदीने सिर हिला हामी भरी। बाबाने पूछा, "भइया, तुम्हारे खानेका क्या इंतजाम है ?"

"सत्तू है, मेरे पास।"

दीदीने व्यंग्य कसा, "सत्तूमें बहुत पुष्टई होती है न्!" व्यंग्य

अपनापेकी भावभूमि पर ही मारे जाते हैं। इससे संतुप्त हुआ। बाबा बोले, "कुछ बना खा लेना भइया।"

दीदीका स्वर—"बाबू, इनसे कहो कि आज हमारे ही यहाँ चल कर बना लेंगे।"

अतिथिको निमंत्रित करनेके लिए पितासे अनुमति लेनेका निराला ढंग!

पिता बोले, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं! चलो भइया आज वहीं बना खा लेना।"

शिष्टाचार और हार्दिकताके बीचकी रेखाका पता चलाना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इसीसे उत्तर न दे पाया। मुस्कराहट आ गई अपने आप।

कुछ देर बाद सूर्यके अंतिम सुवर्णकी छायामें तीन पथिक चले जा रहे थे—बाबा, दीदी और मैं। सारे रास्ते भर उन्होंने मेरे बारेमें सभी ज्ञातव्य जान लिया; अर्थात् दीदीने भी जान लिया कि मैंने वहाँ तक पढ़ा है जहाँ इस्कूली पढ़ाई समाप्त हो जाती है। और कि मेरी शादी नहीं हुई है। दोनों ही बातें उनके लिए आश्चर्यजनक थीं।

घर पहुँचकर हम लोग तो तख्तेपर बैठ गये और हारी थकी दीदीको चूल्हा जलानेके लिए ईंधनका प्रबंध करते देखा। लकड़ीकी एक चैली मोटी लकड़ीमें जुड़ी थी, उसीको वे मेहनतसे खींच रही थीं, पर निकलती न थी। लपककर मैं गया। संकोचमें मुस्कराकर बोलीं, "अरे, मैं निकाल लूँगी।"

श्रमके कारण चेहरा आरक्त हो आया था। उस रंगमें मुस्कराना बड़ा ही अच्छा लगा। मैंने चैली खींचते हुए कहा, "सोचती होंगी कि कहाँकी जहमत पाल लाई!"

"हाँ, सोचती तो हूँ!"

"अपना तो करना ही है, फिर पीछे हमारे लिए अलग अहरा सुलगाओगी।"

इसका अर्थ उन्होंने शायद यह लिया कि मेरे लिए अलग अहरा क्यों सुलगाओगी! उसीमें चल जायगा। बोलीं, "तो तुम्हारे लिए पक्की रसोईका प्रबंध वहीं रसोईमें किये देती हूँ!"

यदि यह जानता कि इसका यह अर्थ भी निकल सकता है तो बात कहता ह'ि न! चुपचाप रसोई पका लेता। अब तो इन लोगोंके ऊपर एक काम और बढ़ गया। इसलिए कहा, "मेरा मतलब यह नहीं था। मैं तो···"

"मतलब समझती हूँ मैं। एक दिन हम गरीबोंके यहाँ खा लोगे तो पेट खराब हो जायगा! क्यों?"

"तुम गरीब हो, मैं अमीर हूँ, इस बातकी ज्योतिष भी जानती हो, यह तो अच्छी बात है, बादमें मेरा हाथ देखकर बता देना कि लड़के-बाले कितने होंगे। पर यह भी कह दूँ कि ज्योतिषका ज्ञान बहुत सही नहीं है।"

"जिसने इस्कूलके आखिरी दर्जे तक पढ़ा हो उसके घरकी आमदनी कैसी होती है, यह जानती हूँ। और यह भी समझती हूँ कि जो खाली रहकर घूम सकता है, उसके सिरपर चार जनोंका खर्चा चलानेका बोझा नहीं है।"

व्यंग्यकी निष्ठुरतासे चुप हो रहा।

क्षण भरमें परिस्थितिकी भाँप तिरछी मुस्कान बोली, "बुरा लग गया?"

"नहीं। मेरा मतलब था कि टिटिम्मा करनेकी क्या जरूरत है? मैं भी कच्ची रसोईमें ही निबट लूँगा।"

"शहरके पढ़े-लिखे हो न! तुम्हें कोई भेद-प्रभेद थोड़े ही न होगा।···पर बाबूको क्या करोगे?"

जिस झूठका आश्रय रात-दिन लिया करता हूँ, वही जैसे निर्लज्जतासे धृष्टताकर कह बैठा, "उनसे कह देना कि पक्की रसोई ही जिमा रही हूँ।···रातमें तो कम दिखता है न?"

बातका उत्तरार्ध जैसे उन्हें लगा हो। चेहरेसे पता चला। बोलीं, "अच्छा।"

ईंधन लेकर चली गईं।

मैं आकर पिताके पास बैठ गया। थोड़ी देर बाद वे गगरा लेकर आईं। पानी भरने जा रही थीं। बोलीं, "बाबू, इनसे कहो कि कहाँ भौरी-लीटी बनाते फिरेंगे! हमारी रसोईमें ही पक्का खा लें।"

वृद्धको क्षणमात्रके लिए विचलित देखा। जिस बनावट और अवस्थावाले घरके सामने बैठा था, उसे और उस लालटेनको जो अभी-अभी जलाकर दीदी रख गई थीं, देख कर उनके चेहरेकी क्षणमात्रकी मलिनताका कारण बूझ गया। घी रुपये पाव हो गया है* और पूरियोंके बनानेमें पाव तो लग ही जायगा। ऐसी बात

* शहरोंमें तीन छटाँक, अढ़ाई छटाँकका है।

क्यों कह दी कि अतिथिके सम्मुख लज्जाकी स्थितिमें आया जाय।

फिर भी वे बोले, "जैसी तेरी इच्छा।"

बोलीं मुझसे, "भइया, तुम हमारे साथ कुएँ पर चले चलो। हाथ-मुँह धोकर निश्चित हो लो।"

जैसे यह सब पिताको सुनानेके लिए कहा हो। मेरी ओर सिरसे इशारा किया—आओ।

शायद मैं अभी मुँह धोने न जाता। पर कहा, "अच्छा!"

अपने घर कुआँ न था। पड़ोसके कुएँ पर जाकर लाना था। रास्तेमें बोलीं, "इधर-उधर कहोगे कि पक्का कह कर कच्चा खिलाया! क्यों?"

जिसने अपने पिता तकसे मेरे अपरिचयके बावजूद झूठ बोला, उसके स्नेहको यों भुला देना कृतघ्नता होगी। कहा, "नहीं कहूँगा।"

"दिलमें तो रखोगे।"

"उसका भी विश्वास दिलादूँ, कि भूल जाऊँगा।"

अँधेरेमें दीदीका चेहरा न देख पाया। इच्छा थी कि देख कर जानता कि उन्होंने विश्वास किया या नहीं किया। पर शायद नहीं ही किया क्योंकि वे कह देनेवाली बातके ही इर्द-गिर्द घूम रही थीं। बोलीं, "किसी एकसे भी ना कहोगे?"

"ना।"

पतित हूँ मैं कि वहाँ जीवनदाता कूपकी साक्षीमें जो विश्वास दिलाया था उसको किस निर्लज्जतासे तोड़ रहा हूँ। एक-दो नहीं जाने कितने पाठकोंको यह बता रहा हूँ। बड़ा ही स्वार्थी होता है

यह लेखक नामका जीव भी। या शायद यह मेरी व्यक्तिगत स्वार्थांधता हो।

मुँह-हाथ धोनेका छलावा न करने दिया दीदीने। बोलीं, "अभी आकर नहा लो। दिनभरके पसीनेकी देही।"

साथ-साथ लौटा। रास्तेमें कहती रहीं, "आज पहुनेके सामने पितासे झूठ बोलना पड़ रहा है। पर जिन्निगीभर वे तो सबका आदर-सत्कार करते आये। अब जो उन्हें बता दूँ कि तुम्हें कच्चा ही खिला रही हूँ तो कितना दुख होयगा उनके कलेजेमें। एक तो तुम्हीं उनकी नजरसे गिर जाओगे। सोचेंगे कि कैसा बाम्हन है कि दूसरेके यहाँ कच्चा खाना खा लेता है।···जानें राम कि कितना कष्ट उन्हें इस बुढ़ापेमें भोगना पड़ रहा है। देहीमें पौरुख रह नहीं गया! धरती माता बिना मेहनतके देतीं नहीं। हरवाहेका काम! क्या पैदा होयगा खेतसे! घरकी हालत ऐसी होइ गई है कि···"

घर आ गया था, इसलिए बहुत धीमी आवाजमें दरवाजेके सामने रुककर बोल रही थीं। बोली आगे, "आओ देखो!"

गया साथ-साथ। ओसारेके बाद ही ड्यौढ़ी है। उसके बाद फिर ओसारा। लपककर गगरा रख आईं और ढिबरी ले आईं। ढिबरीके प्रकाशमें चेहरेका भाव प्रसंगानुकूल हो रहा था। दीदीके चेहरेपर भाव बड़ी जल्दी प्रकट हो जाते हैं।

कितना गलत पढ़ा मैंने उन्हें। बादमें जाना कि कितनी उल्टी बात सोच गया यह मैं। भीतरके भावोंको जब वे चाहती थीं तभी जिस रूपमें चाहती थीं उसी रूपमें प्रकट करनेकी अद्भुत

क्षमता थी उनमें। कुछ अंशोंमें यह बात शायद सम्पूर्ण स्त्री जाति पर लागू की जा सकती है। जानता हूँ कि कितनी भोंड़ी बात यह मैं कह रहा हूँ। किसी भी व्यक्तिको स्त्री या पुरुषके दो वर्गोंमें बाँटकर देखना और उन्हें दो भिन्न-भिन्न जातिगत विशेषताओंसे युक्त कर देना – कितने बचपनेकी बात होती है। सभीमें अपनी विशेषताएँ होती हैं। किसी भी शैली विशेषको स्त्री मात्र या पुरुष मात्रपर थोप देना ठीक नहीं होता है।

ड्योढ़ीमें ऊपरकी ओर दिखाती, बोलीं, "देखते हो इसकी दसा ?"

ऊपरकी खपरैल आधासे अधिक उखड़ गई थी जिससे निरभ्र आकाशके तारे दिख रहे थे। यह कई वर्षोंमें गिरा है, इस बातका पता दीवालोंको देखनेसे लग जाता था। ऊपरसे बाँस और खपच्चियाँ उलटे सीधे अटके थे। बरखाकी पहिली आँधी बौछारमें यह सब नीचे आ गिरेगा—यह निश्चित था। ऊपरकी-सी ही दशा नीचेकी उखड़ी कच्ची फर्शकी हो रही थी। नीचे जमीनको देखते हुए मुझे देख बोलीं, "क्या देखते हो, बरसातमें भुँइफोर निकलेगा। आना तो तरकारी खिलाऊँगी।"

कैसा व्यंग्य था ! जैसे कोई पुराने टूटे बक्सको खोल कहे कि इस रेशमी नई साड़ीको जब चूहे कुतर डालेंगे तो उसे काट कर तुम्हारे लिए रुमाल बना दूँगी।

फिर वे आगे बढ़ीं ओसारेकी ओर। ओसारा भी काफी टूट फूट रहा था। अड्डमगड्ड भरा पड़ा था। एक जगह खपरैल साबूत थी। वहीं चूल्हा दिखा। ओसारेसे एक सीढ़ी उतर आँगन था

काफी बड़ा। उसमें काफी झाड़-झंखाड़ उगा था जैसे बरसातमें घरके पिछवारे हो जाता है।

दीदीने दिया उधरको फेरते हुए कहा, "जानते हो, गाँव वालोंको जब धतूरेके फूल या तूतमलंगेकी जरूरत पड़ती है तो यहीं दौड़े आते हैं।"

वे मुस्कराईं। उनके व्यंग्य पर मुस्कानका साथ दूँ या अपने गाँवकी भुतही झाल झूलका चित्र स्मरण करूँ जहाँ लोग काँटा बचा-बचा धतूरेका फूल खोजने जाते हैं।

आँगनके बीचसे एक पगडंडी सीधी चली जाती थी। उसी पर दीदी आगे बढ़ीं। दो पग आगे बढ़ रुकीं। पीछे अंधकार था। दिया पीछेको दिखा बोलीं, "आओ।"

नीचे उतरा और साथ ही मनमें एक शंका जागी कि यह सब दीदी मुझे क्यों दिखा रही हैं? क्या हर अपरिचितको वे यह सब दिखाती बताती हैं, सहानुभूति पानेके लिए? यदि ऐसा है तो बेचारी दयाकी पात्री हैं! या किसी आशाके आसरे पर यह सब है?

आँगन पार कर वे खड़ी हो गईं। उस तरफ कोई कमरा रहा होगा, गिरी पड़ी दीवालोंमें भी ऐसा लगा। बोलीं, "यह पहले चौका था। यहीं रसोई बनती थी। अब बिसतुइयाँ खाती पकाती हैं।"

जाने किधरसे हवाका एक झोंका आया। ढिबरी की लौ इधर-उधर होने लगी। दूसरे हाथकी हथेलीसे, अँगुलियोंसे उन्होंने दियेको घेर लिया। बोलीं, "कैसे सँभले घर? रामका दिया खेत सिवान है। कमाए तो उन्हीं खेतोंमें बहुत निकले। पर कोई है तो नहीं

देखने वाला। आज मेरे कोई भाई होता तो यह सब इस हालत पर होना! बाबूकी हालत ऐसी हो रही है, माई हैं वे और बूढ़ी हैं। मैं निपूती किसको-किसको रोऊँ?"

निपूती!!

अभी तक खेतकी ओर—आँगनकी ओर देख रहा था। अब एकदमसे उनकी ओर निगाह गई। दियेके धीमे प्रकाशमें उनका चेहरा बड़ा विवर्ण-सा लगा। छोटी-छोटी आँखोंकी पलकें खुली तो पूरी थीं किन्तु उनकी दृष्टि जैसे बन्द थी—सिमटकर स्वयं तक ही रह गई थी। उन्हें जैसे मेरी दृष्टिका भान न हुआ। आधे मिनट चुप रह बोलीं, "आज रामका दिया एक लड़का होता अपने तो, उसीके सहारे सब जिन्निगी काट देती। लड़की ही होती तो भी चौकेमें ही हाथ बँटाती। घरको ही बोल-बोलकर गुलजार रखती।..."

उनका स्वर मंद और धीमा था जैसे स्वयं में ही बोल रही हों, पर उन्हें मेरी उपस्थितिका ध्यान तो था ही! बोलती रहीं, "...पर यह सब भाग्यमें होता तब तो! तकदीर ही खराब ना होती तो यहाँ मायकेमें यों पड़े रहना पड़ता! अपने ही भाँवर लिए आदमीपर सौत राज करती भला! हुँह!..."

मिनट डेढ़के अन्दर क्यासे क्या हो गया। जो दीदी परम सुखी जान पड़ती थीं, उन्हींका अखंड दुख जैसे स्पष्ट रूप धारण कर सामनेके तूतमलंगा और लहचिचराके पौदोंपर आ फैला था। जैसे उनका वंध्यापन और उनकी सौत उन्हीं झाड़ियोंमें आ छिपे बैठे हों। जैसे वे उन्हें यहाँ मायकेमें भी सुखसे न बैठने देंगे।

ये तूतमलंगेके पौदे दिनों-दिन बढ़ते ही जायँगे। इनके बीज जाने कितनोंके फोड़ोंपर लगाए जायँगे और आराम देंगे। पर ये दीदीको आराम नहीं दे सकते। इनके बीचकी पगडंडी ऐसे ही कायम रहेगी। सदैव ही इन पेड़ोंके बीच यह थोड़ी-थोड़ी इसी प्रकार झलकेगी। उसपर दीदी आए जायँगी। उनकी कपाल रेखापर जीवन भर विधाताने इसी पगडंडीपर आना जाना ही लिखा है। चाहकर भी यह पगडंडी आँगन नहीं हो सकती। यह पगडंडी और चौड़ी नहीं हो सकती। यह ऐसे ही रहेगी, लुप्तप्राय।

सच, क्या विधाताने दीदीको इसी (इसी) पगडंडीपर आने जानेको लिख दिया है?

मिनट भर चुप खड़ी रहीं। मुझे डर लगा कि कहीं दीदीके आँसू न निकल आएँ। तब क्या होगा! पर वैसा हुआ नहीं। वे स्थिर स्वर बोलीं, "तुम भी कहोगे कि कहाँका पचड़ा ले बैठी!···क्यों?"

वे फिर मुस्कराईं। लगा कि मुस्करा-मुस्करा ही वे अपनी सौतको भुलानेका यत्न करती हैं। बोला, "नहीं दीदी, ऐसा काहे सोचूँगा।"

उन्होंने मेरी बात जैसे सुनी ही न हो। हँस कर बोलीं, "जानते हो, मैं किस घरमें पैदा हुई थी? वह उधरवालेमें। आओ दिखाऊँ।"

अभी तक तो नहीं, पर अब लगा कि पचड़ा ले बैठीं। पर दीदीके स्वरमें कुछ ऐसा कातर आग्रह था कि बहुत कुछ दयाके वशीभूत होकर ही पीछे-पीछे चला। दाहिने हाथ पर जो ओसारा

था, उसी ओर वे बढ़ीं। इधर भी दीवारें घरके अन्य अंगोंके साथ संगठन किये थीं।

कोठरीकी किवाड़ी बची थी। उसकी साँकल भी। उन्होंने उसे बंद भी कर रखा था। ढिबरीको ताकपर रख उन्होंने साँकल खोली। यों नहीं खुलती थी तो दरवाजेको थोड़ा ऊपरकी ओर चढ़ाया, तब साँकल ढीली हुई। किवाड़ ठेल, ढिबरी ले वे भीतर चलीं। भीतरसे यह कोठरी कुछ ठीक थी। पर बाहरकी ओर को दीवाल गिर पड़ी थी। बाहर खेतकी ओरका दिखता था। कोई आ सकता था, इतनी संधि थी।

कोठरीमें एक दीवट था। उस पर ढिबरी रख दी उन्होंने। बोलीं, "यह हमारे यहाँका सौरीघर है।"

कोठरीमें एक ओखली उलटी पड़ी थी। उसी पर बैठ गईं और पीठ पीछे दीवालसे टिका ली। हाथोंके पंजोंको एक दूसरेमें फँसा लिया और घुटनों पर निढाल डाल लिया। बोलीं, "हमारे घरका हर बच्चा इसीमें हुआ है। पहले इसमें ढेर सारे घुनघुने, फिरिंगी, चट्टेपट्टे रखे रहते थे। अब कुछ नहीं रह गया। बिलकुल ख़ाली हो गया। पीछेकी दीवाल भी टूटी है। पर इधरसे कोई आता ही नहीं। सामनेकी अल्मारीमें एक कजरौटा पड़ा है। इसीसे हर बच्चेकी आँखमें काजल लगाया गया है। यह ऐसे ही यहाँ पड़ा है। पर कोई इसे भी नहीं चुरा ले गया।"

"मैं चुरा लूँगा आज।" जाने कैसे मैं हँसीके मूडमें हो गया।

उन्होंने सिर हिलाया—अच्छा!

उसके बाद उनके शिथिल पड़े चेहरे पर मेरी दृष्टि जो गई तो जाने कैसा लगा। जाने क्या भाव था उन आँखोंमें। बड़ी तटस्थतासे बोलीं, "पिछले साल इसी कोठरीमें कुतिया बियाई थी।"

वैसे ही शिथिल निढाल बैठी रहीं। अचानक सजग हो आईं। मुझे देख, आँखें नचा, कुछ तिरछे मुस्करा बोलीं, "अच्छा तो, इसे तुम चुरा लोगे ?"

मैंने हामी भरी—हाँ।

वे तिरछी मुस्कानको स्थिर बना बोलीं, "मैं इसकी चौकीदारी करूँगी।"

उनकी ओर देख मन जाने कैसा हो आया। घबरा गया। यदि यहाँ एक दो मिनट और रुका तो मनमें ऐब न आ जाय। डर लगा कि कहीं लपककर उनका हाथ पकड़ने जैसी बेजा हरकत न कर जाऊँ।

सब कुछ अच्छा लगता है, पर डर भी बहुत लगता है। तुरन्त पलटा, "अच्छा दीदी, चलूँ नहा लूँ।"

वे भी ठीक हुईं। ढिबरी दिखाती बाहर आईं। झोलेमेंसे धोती निकाल, गगरा ले कुएँपर नहाने चला गया।

खाना बन जानेपर कहने आईं। काफी रात हो गई थी। लालटेन भकभका कर बुझ गई थी। यों भी जब तक जलती रही थ, इतना धुआँ फेंकती थी कि शीशा गन्दा काला होकर अपने

भीतरकी रोशनीको बाहर नहीं आने देता था। चलो, अच्छा ही हुआ बुझ गई।

ढिबरीसे रास्ता दिखाते हुए, अपने पिताका हाथ पकड़ टेकाते हुए भीतर चलीं। उस सहाय्य मुद्रावाले चित्रको देख मेरे मनमें उस समय हुआ कि यदि इनके पति इन्हें अब ले जानेके लिए आएँ तो ये पिताको छोड़ जायँगी या नहीं ?

चौकेपर बैठे। एक-सा ही खाना हम दोनोंको परस दीदी चौकेमें बैठ गईं। थालीमें एक ओर भात रोटी थी और सामने दाल। पैरके पंजेपर भातकी ओरका हिस्सा चढ़ा लिया कि थाली ऊँची रहे, दाल फैलने न पाए। बाबा टोय-टोय खा रहे थे—बिलकुल नहीं सूझता। बोले, "भइया, यही जो रूखा-सूखा जुटा है, हाजिर है। इसे पूरी बनाना आता नहीं, अच्छी न बनी होंगी !"

"नहीं बाबा, बहुत अच्छी बनी हैं।"

दीदीने आँचलका खूँट मुँहमें देकर हँसी रोकी।

पहिला कौर मुँहमें देकर बाबा बोले, "काहेकी तरकारी बनाई है रे ?"

कुछ पल हम दोनों हक्का-बक्का रहे—कुछ सूझा ही नहीं कि आजकल काहेकी तरकारी सुलभ है। दीदी मिठुलायकर बोलीं, "कहाँ तरकारी है ! आजकल कोई तरकारी मिल भी रही है गर्मीके दिनोंमें !···"

उनकी द्वयर्थक बातको मैंने सँभाल लिया, "अरे तो, आलूकी तरकारी बुरी तो नहीं होती। अच्छी भली बनी है।"

मूँछोंके हल्के-हल्के रोयोंके तले ओठोंके कोने दीदीने सिकोड़े, आँखें ऊपरको चढ़ा गोल कर लीं अर्थात् क्यों बनाते हो हमें ?

पाँच मिनट बाद पिता बोले, "ला रे, दो ठो पूरी हमें भी तो दे, देखूँ कैसी बनी हैं ! तनिक तरकारी भी देना।"

हम दोनों सन्न मारे एक दूसरेको देखते रहे।

बोलीं दीदी, "बाबू, तुम्हारी यही आदत तो हमें ठीक नहीं लगती। अभी कल तक पेट ठीक नहीं था। आज लोभके मारे पूरी तरकारी माँग रहे हो। रात भर उठ उठकर भागोगे खेतमें !"

वृद्ध बोले, "दो ठो खानेसे गड़बड़ नहीं होगा। ला दे तो।"

मैं बोला, "दीदी, लाओ कुछ पूरी दो तो।"

उन्होंने चार अँगुलियाँ दिखाते हुए कहा, "कै ठो दूँ ?"

"अरे दे दो तीन चार।"

"भइया चार ही बची हैं। ऐसा करो कि भात ले लो और दो पूरी ले लो। दो पूरी बाबूका दे देती !"

वृद्धका स्वर—"अरे, ये तेरा भात खायँगे ? दे इन्हें सब पूरियाँ। मुझे भात ही दे।"

दीदी हँसी रोक बैठी रहीं। वृद्ध शायद पूरियोंके थालीमें गिरनेकी आवाजको अनकते रहे। नहीं सुनी आवाज तो बोले, "देती क्यों नहीं इन्हें पूरियाँ ?"

"दे रही हूँ बाबू !" कह दीदीने जोरसे दो रोटियाँ मेरी थालीमें फेंकीं।

'धप' की आवाज। वृद्ध आश्वस्त हुए।

मेरे दिमागके सामने एकदमसे लखनऊका एक स्मृति चित्र

आ गया। आ रहा था कालेजसे। रास्तेमें एक मित्रसे खड़े होकर बात करने लगा। तभी रसगुल्ले खानेकी इच्छा हुई। मित्रने दूर जाते हुए रसगुल्ले वालेको आवाज दी। पर उसने सुना नहीं। वहीं पासमें भूजा चबाते एक मजदूरने सुना तो जोरसे आवाज देकर रसगुल्ले वालेको बुला दिया। जब वह रसगुल्ले देकर पैसे लेने लगा तो बोला वह मजूर, "इतने रसगुल्ले लिये बाबूने, कुछ पैसे कमकर दे।"

पैसोंके पीछे रसगुल्ले वालेसे उसने काफी बहस की। फिर उसके चले जानेके बाद बड़ी देर तक बताता रहा कि यहाँ का खोमचे वाला है, वह अच्छे सौदे रखता है, दूसरा है, पैसे ठीक लेता है; आदि आदि।

मैंने पूछा, "तुम पहिले रसगुल्ला बेचते थे क्या?"

"नहीं बाबू।"

तब हम दोनों मित्र एक दूसरेको देख मुस्कराये।

उसी मजूरकी तरह वृद्धका मन भी पूरियोंमें लगा था, इसीसे उन्हें पूरियों में 'धप' से गिरनेकी आवाजकी इतनी प्रतीक्षा थी। जिन स्त्रियोंको रेशमी साड़ी पहिननेको नहीं मिलती वे प्रायः ही औरोंको उनकी साड़ियोंके बारेमें तरह-तरहकी रायें दिया करती हैं। खैर, स्त्रियोंकी तो बात ही अलग है। जिनको पहिननेको मिलती है, वे भी हरदम उसीकी चर्चा किया करती हैं।

मैंने थालीके भातकी ओर इशारा करते हुए संकेतोंसे दीदीको समझाया कि यह क्या किया? कौन खायगा इतना सब? बरबाद किया।

दीदीने संकेत किया कि खा जाओ, सब ठीक है। सिर झुका खाने लगा।

पाँच-छः मिनट बाद ध्यान हटा तो सामने देखा। ढिबरी बीच में रखी थी, दीदी चूल्हेकी ओर मुँह किए बैठी थीं अर्थात् मेरी ओर उनकी दाहिनी 'अलँङ' थी। दाहिनी भुजा कोहनीसे मोड़ ऊपरकी ओर टेढ़ी कर रखी थी। फिर कलाई मोड़ तीन अँगुलियों पर दाहिनी कनपटीको टिकाए थीं। दृष्टि चूल्हेकी ओर किंतु शून्य भावसे। पैरोंको घुटनेसे ऊँचे कर फैला दिया था और कोहनी घुटने पर टिकी थी।

जाने यह आकर्षण पोज़में होता है या व्यक्तिमें? उस सामान्य मुद्रावाले पोज़में ऐसा क्या रहा होगा, नहीं जानता। उनके उस प्रकारसे बैठनेमें शरीरको कुछ ऊपरकी ओर खिंचाव पड़ रहा था। धोतीका पल्ला सिरके ऊपरसे गया था किंतु दाहिने कंधे और पीठके दाहिने पंचमांशको निरावरण करता हुआ। चूँकि कमरके ऊपर पीठ चौड़ी होती जाती है और कंधोंके पास गलेसे ले कंधे तककी लम्बाई आ जाती है निरावरण रूपसे, इससे यह पंचमांश एक त्रिभुजके रूपमें हो गया था जिसकी आधार रेखा गलेसे कंधे तककी लम्बाई होगी।

पृष्ठ-त्रिभुजकी उस अनावरण गोराई और कंधेकी सुडौलता को एकटक देखता ही रह गया। त्वचाकी निर्मलता और शरीरकी वक्रता मिल कर ऐसा क्या साम्य अभिव्यक्त कर रहे थे कि मन टिका ही रह जाय! यह आकर्षण संज्ञा, लालचकी पर्याय तो नहीं है? इस आकर्षणके पीछे यह छटपटाहट कैसी होती है?

मिनट तक देखता रहा होऊँगा कि कुछ ग्लानि-सी लगी। सिर झुका लिया। एक साथ दुहरा क्लेश मिलने लगा। एक तो उस अभी अभी प्राप्त सुखके जबर्दस्ती त्यागनेका। और दूसरा अपने पतित होनेका।

मनोविज्ञानके अनुसार शायद मैं पतित नहीं था, शायद कोई भी पतित नहीं होता। पर अपने मनके अनुसार मैं था। और विचित्र बात यह कि क्लेश मिलनेके जो दोनों कारण थे, दोनों ही एक दूसरेके विरोधी। अर्थात् दोनों ही आपसमें एक दूसरेके कारण थे।

जितनी देर खाता रहा, नजर ऊपर न उठाई और यही सोच-सोच क्लेश पाता रहा कि मुझमें इतना भी संयम नहीं है कि अपने से चार-पाँच वर्ष बड़ी दीदीको इन निगाहोंसे न घूरूँ! हे मनके स्वामी, क्यों न तुमने मूढ़ोंके समान घोर संस्कारी बनाया कि दिमाग में और कुछ आता ही न, सिवाय उन परम्पराओंके जिनसे सब जन्म से ही बँधे रहते हैं। उन्हें छोड़नेके लिए उनका मन व्यर्थ में बहकता नहीं।

लेटे हुए पन्द्रह मिनट ही बीते होंगे। थकानके कारण नींद नहीं आती थी। तभी दीदी आईं। पुकारा, "बाबू, बाबू!"

आवाज बदली हुई लग रही थी। ध्वनिकी गति भी दूसरी थी। मैं उठ बैठा। तीन चार आवाजों बाद पिता भी उठे।

—"का है रे?"

"बाबू, साँस फिर फूलत है।"

"दौरा आइ गया ?···का बताऊँ! पीपरि चाटी थी ?···"

"राम हो !···नाहीं चाटी थी, बाबू।"

मैं घबरा गया। पूछा, "क्या हो गया ?"

पता चला कि दमेकी शिकायत है। जब तब दौरा आता है तो साँस घर्र-घर्र चलने लगती है। बड़ी तकलीफ हो जाती है। पीपरि और सोंठ कूटकर चाटती हैं मधुके साथ। उससे आराम रहता है। दौरा आनेपर गरम पानीसे सेंकती हैं। इससे जल्दी आराम मिलता है।

दीदीके बोलनेके ढंगसे ही लग रहा था कि इस समय कुछ भी कर नहीं सकतीं। यहाँ तक उठकर चली आईं। और इतना बोल रही हैं—यही बहुत है।

बाप वृद्ध-अन्धे हैं। कौन पानी गरम करेगा। मनमें हुआ कि कह दूँ कि मैं गरम कर दूँगा। किन्तु संकोच लगा कि वृद्ध क्या सोचेंगे। दो मिनट बाद साहसकर कहा। पर कहने ही भरकी देर थी। वे बोले, "जाओ भइया, जरा देख लेते तुम्हीं।"

अँधेरेमें अन्दाजसे घरमें टोय-टोय घुसा। चूल्हेमें राख और कंडीके नींचे दबी आगको रहठा-कँउचीसे धधकाया। गर्मीका सूखा ईंधन। दो मिनटकी मेहनतसे ही सुलग गया। प्रकाश हो जानेसे बड़ी सुविधा हो गई। ढिबरी जला ली। सब बर्तन जूठे हो रहे थे। कड़ाही बची थी। उसमें पानी गरम होनेके लिए रखा।

दीदी पास ही खाटपर पड़ी ढँसर-ढँसर साँस ले रही थीं। बोलीं, "ऐसा गाँव है कि हारे-गाढ़े विपत्तिके दिनोंमें कोई दुआर

झाँकने भी नहीं आता। और कुछकी आस क्या की जाय ?··· राम तुम भी ऐसे हो कि यह दिन दिखाया कि घर आए पहुनेको सेवा करनी पड़ रही है।···" खाँसने लगीं।

मैंने कहा, "अब चुप लेटो। कुछ ना बोलो।"

देहातके कुम्हारने चपटा बोतल जैसा मिट्टीका एक बर्तन बना दिया था, उसीमें गरम पानी भर कर सेंकती हैं।

पानी भरा। बहुत-सा बच गया। बोतल उन्हें पकड़ा दी कि लो सेंको। फिर खड़ा हो गया कि पूछूँ कुछ और काम ?"

द्वार खुला रह गया था, एक कुतिया सूँघती हुई आ गई। जूठे बर्तनोंके पास डोल बैठाने लगी। मनमें आया कि चुपकेसे जाकर कड़ाहीका गरम पानी इस कुतियापर गिरा दूँ मजा आ जाय।

कुछ खटका हुआ तो सशंक दृष्टिसे हमें देख कुतिया भाग गई। तब अपने मनमें अपने ऊपर बड़ी शरम आई। यह कैसा है मन और उसका व्यापार ? एक ओर तो दीदीके लिए इतना स्नेह कि उनके कष्ट-निवारणके लिए पानी गरम किया। और दूसरी ओर उसी पानीसे निरपराध कुतियाको कष्ट देनेकी कल्पना। अर्थ यह हुआ कि मन स्वयंमें भला नहीं है। कुछ सम्बन्धोंमें भला, कुछमें बुरा है।

कौन-सा है वह सम्बन्ध जो इस अपरिचिता मुँह-बोली बहिनके लिए हो गया है—वह पावन स्निग्ध सम्बंध कि जो इतना शिव है ?

एकांत अँधेरी रातमें उस घरमें रहना संकोचका विषय हो गया, इससे बाहर चला। दीदी हाँफते-हाँफते बोलीं, "यह गगरा लेते जाओ। रातमें प्यास न् लगे।"

गगरा उठाया तो बोलीं, "सँभाल कर रखना। रातमें कोई उठा न ले जाय। चोर बढ़ रहे हैं।"

तीन-चार पग ही आया हूँगा कि बुलाया, "भइया!"

पलट कर ताका।

"सुनो!"

पास गया। बोलीं, "भइया, एक काम करो। यह ढिबरी ले सौरीवाले घरमें चले जाओ। वहाँसे वह कजरौटा उठा लाओ।..."

खाँसी आ गई तो रुकीं। मैं खड़ा रहा कि क्या कह रही हैं, यह। क्यों?

बोलीं, "चोर बढ़ने लगे हैं। कोई उसे उठा न ले जाय!"

"ना दीदी, कौन ले जायगा एक कजरौटा? जब अभी तक नहीं ले गया तो अब क्या उसकी चोरी रातमें कोई करेगा?"

चुप हो गईं। मैं चला तो बोलीं, "रुको।"

अभी शायद आश्वस्त नहीं हुई थीं। बोलीं, "ना, उसे ला दो। कोई उठा ले जायगा।"

ढिबरी उठा, उसे लाने गया। लाकर दिया तो उसे आधे मिनट हाथमें लिये यों देखती रहीं कि जैसे देख रही हों कि रास्तेमें मैंने उसे खराब तो नहीं कर दिया!...शामको उसे चुरा ले जाने की बात मैंने कही थी।

कजरौटा खोल उसमें अँगुली रगड़ने लगीं कि जैसे काजल निकाल रही हों पर उसमें कुछ था ही नहीं। फिर भी अँगुलीको धोतीके खूँटमें पोंछने लगीं। बोलीं, "कल इसमें काजर पारूँगी। छूँछा नहीं रहना चाहिए।"

फिर मुझे कजरौटा पकड़ा बोलीं, "मेरी इसी चारपाईमें टाँग दो। और कहाँ रखोगे ? कहीं इधर-उधर हो गया तो मौके पर ढूँढ़े नहीं मिलेगा।"

मैंने उसे टाँग दिया और चलने लगा तो बोलीं, "भइया, तुम्हारे पास साबुन होगा !"

"हाँ। क्यों ?"

"कुछ नहीं। यों ही। तेल उबटनका दाग साबुनसे बड़ी जल्दी छूट जाता है।"

एक मिनट खड़ा रहा मैं। बोलीं, "भइया, फिर आना कभी। तुम्हारे जैसा पढ़ा लिखा एक आया था तो सबसे पूछ-पूछ गीत कजरी लिखता था। तुम्हें शौक हो तो सुनना लिखना। माईको बहुत सोहर याद हैं। बड़ा अच्छा गाती हैं। आना, तुम्हें सुनवाऊँगी।"

फिर स्वयं गुनगुनानेकी कोशिश करने लगीं—

हो···रि···ल···ज···न···म···

( होरिल जनम भयो है )

गा न पाईं। बड़ी ढँसही आवाज निकली।

मैंने उनकी आवाजको प्रतीक रूपमें ग्रहण कर प्रतीक रूपमें

ही कहा, "रहने दो दीदी, तुम ना गा पाओगी। अब सो जाओ। रात ज्यादा हुई।"

सोचा कि रात भर इनका दिमाग खराब रहेगा। अब सबेरे ही इनकी, तिरछे ओठों वाली मुस्कान, देखनेको मिलेगी। तिरछी मुस्कान—रहस्यात्मक मुसुकी। चमकती हुई आँखें और उनके नीचेकी मुस्कान। पर सबेरेके पूर्व नहीं।

●●

# धरम की तुला

मुँह अँधेरे ही गाँव छोड़ दिया। रात देरसे सोया था, फिर भी नींद जल्दी खुल गई। बात यह है कि नींदके विषयमें मैं पाक्षिक या मासिक किश्तोंसे चलता हूँ। मतलब यह कि लोग छः सात घंटे सोते हैं और सत्तरह अठारह घंटे जागते हैं। यदि रात देरसे सोए तो सुबह देर से उठे। यह दैनिक किश्त हुई। और मैं महीने बीस दिन तो घंटा दो घंटाके हिसाबसे सोता हूँ किन्तु उसके बादके ही महीनेमें दस ग्यारह घंटेके हिसाबसे सोता हूँ और इस प्रकार कोटा बराबर हो जाता है और नींद मासिक किश्त में बँट जाती है।

किरन फूटते-फूटते मैं उस तालपर पहुँच गया जहाँ से मनोरामा सजल हो जाती हैं। गर्मीके दिनोंमें पानी कम हो जाता है, इससे घुटने बराबर ही जल था। ज्यादा चौड़ी भी नहीं। तालके इधरसे

ही घूम कर नदीके बाँएँ किनारेपर हो लिया। लोग-बाग तालपर कुल्ला दतौन कर रहे थे।

मूँजे की एक जट्टीके पास खड़े होकर पूरबकी लाली देखने लगा। शायद गलत कह रहा हूँ। क्योंकि गर्मीके दिनोंके सूर्योदय के आकाशकी लालीमें ऐसा कुछ नहीं होता कि उसे देखा जा सके। और यह कहना भी गलत होगा कि नदीकी टेढ़ी-मेढ़ी आकृति देखने लगा। चारों ओर सपाट, कटी फसलवाले खेतोंके बीचमेंसे बहती चली गई नदीमें ऐसा कुछ न था कि उसे ही एक-टक निहारा जा सके।

फिर भी मैं खड़े होकर यही सब देख रहा था और प्रसन्न था। उसी प्रसन्नताके आवेगमें खड़ा हो गया था। उस समय की अपनी प्रसन्नताके रूपको एक उपमा द्वारा समझाऊँ।

*जैसे कोई व्यक्ति अपनी नव-विवाहिता पत्नीके साथ बाजार* जाये। पत्नी साधारण शक्ल-सूरतकी हो और पति इतना भावप्रवण न हो कि भावुकतामें उसे क्लिओपेट्रा या मेनका समझे। अर्थात् उसमें प्रतियोगी भावका लोभ न हो कि चार जने देखें कि अरे कितनी सुन्दरीके साथ जा रहा है। फिर भी उसके मनमें एक खुशी होती है। उस खुशीमें वह कभी दुकानोंको देखता है कभी पत्नी की इकलाई धोतीको तो कभी उसके गेहुएँ रंगको।

मैं प्रसन्न था सम्भवतः इसलिए कि अपनी संयोजित यात्राका अध्याय आजसे प्रारम्भ होगा। यों यात्रा तो मेरी उसी दिनसे प्रारम्भ हो गई थी, जब घर छोड़ दिया था। किन्तु जो मुख्य यात्रा-पथ था, वह अब पाया है।

प्रसन्नताके आवेगमें मैं सीटी बजाता हूँ। सीटीको संगीतके वाद्य पक्षमें रखा जाय अथवा गायनमें यह पता नहीं। पर हाँ, इतना तय है कि सीटी गायनकी पूर्वा है। इसलिए सहज ही मुझे गुनगुनाना चाहिए था। और वह मैंने किया। इस उत्तरा विद्याने मुझे इतना उत्साह दिलाया कि मैं चलने लगा।

ठंडी ठंडी हवा बह रही थी। रास्ता बिलकुल बँधा नहीं था। दूर तक कोई दिख भी नहीं रहा था, इससे मेरी गुनगुनाहट कवि-सम्मेलनके गायनके स्वरमें बदल गई।

अपने गायन पर कभी इतना विश्वास नहीं रहा है कि गुसल-खाने तकमें गुनगुनानेकी क्रियाको उसकी प्राप्य गतिसे आगे बढ़ा सकूँ। और कभी भूले चूके कविता या सिनेमाके गीतकी कोई पंक्ति मुँहसे निकल जानेके बाद किसी श्रोताने मुझमें तनिक भी तत्संबंधी रुचि दिखाई हो, ऐसी बात भी नहीं रही है। और मुझे अपनी गायन-कलाके विषयमें कोई भ्रम हो, ऐसा भी नहीं।

फिर भी वहाँ उन विस्तृत निर्जन खेतोंमें मुझे लगा कि मैं गा सकता हूँ।

देहातके पसरे खेतों और स्वदेशके चित्रकी कल्पनाका कुछ अन्योन्याश्रित सम्बंध है। खेतोंको देखने पर देशका ध्यान आना और देशकी कल्पना करने पर खेतोंका ध्यान आना स्वाभाविक कड़ी है। इससे वहाँ उस समय मुझे अपने देशके प्रति प्रेम उमड़ आया और बचपनमें रटी एक कविताको बड़ी रसानुभूतिके साथ मैं गाने लगा—

यह है मेरा प्यारा देश
प्यारा देश दुलारा देश
आम करील बबूलों वाला
मेवा फल बनमूलों वाला

इसे गाते गाते कब मैं बदल कर दूसरे शब्दों पर आ गया इस पर ध्यान ही न गया। कई बारकी सुनी कविता थी—

मेरा देश है ये
मुझको प्यार इससे
.....

इसे जिस सुरमें रचयिता वीरेन्द्र मिश्र सुनाते हैं, उसीमें गाने लगा। पाँच सात मिनट गानेके बाद लगा कि मैं बिलकुल उन्हींके सुरमें गा रहा हूँ। बड़ा उत्साह वर्धन हुआ, इस जानकारीसे। और रुचिमय होकर गाने लगा। तब तो मुझे प्रतीत हुआ कि मैं उनसे अच्छा गा सकता हूँ।

आज तक पता नहीं कैसे, मैंने यत्न नहीं किया अन्यथा अच्छा खासा गाता हूँ। और तब इसी विश्वास—नव-गवेषणाके आधार पर मैं उस सुनसानमें बड़ी जोर-जोरसे गाने लगा। कितना अंश वीरेन्द्र मिश्रकी कविताका था और कितना उसी समय प्रेरणा प्राप्त कवित्व प्रतिभाके माप दण्ड स्वरूप मौलिक शब्द संगठनका—यह नहीं कह सकता।

लगता है कि उस समय वहीं कहीं पाससे गंधर्वराज उड़े जा रहे थे। और उन्होंने कृपा पूर्वक किसी अनुचरकी आत्माको कुछ समयके लिए मेरे कण्ठमें बैठा दिया था। ऐसा न होता तो फिर

उसके बाद कभी भी वीरेन्द्र मिश्र बन पानेका सुयोग क्यों न बैठता भला !

मन खुश है, इसलिए कभी तेज चलता हूँ कभी धीरे। तेज चलते समय झूम-झूमकर चलना अच्छा लगता है। धीरे चलते समय सिर को हल्के-हल्के झटका देते हुए और गुनगुनाते हुए चलते हैं—

न् न् न् न् न् न् नन् नन् नन् नन् अन् अँ् अँ् अँ् अँ् अँ् ञ् ञ् ञ् ञ् ञ् याँsssssन् न् नाsssssssनाsss···

रास्तेमें कोई पेड़ पड़ता है तो उसकी छाँहमें खड़े हो जाते हैं और ऊपर बैठे घुग्घू या कुचकुचवाको देख शक्लें बनाते हैं। जब वह पक्षी भी जवाबमें वैसी ही शक्ल बनानेकी कोशिश करता है तो उसे बिराते हैं।

किसी खेतमें दाना बीनती किलँहटोंको देखते रह जाते हैं और फिर उनका चहचहाते हुए उड़ जाना देख चल पड़ते हैं।

किंवी किंवी क्रें क्रें कुट कुट कुट क्रें क्रें एss···।

दूब के एक पौदेके पास ही क्षणोंके लिये बैठ जाते हैं और अच्छी खासी गुफ्तगू हो जाती है।

आमके पेड़में जाला ताने हुए मकड़ीको देख एक अनोखे प्राणीसे परिचय प्राप्त करते हैं। सूरजकी किरनकी चमक जालेपर झिलमिलाहटके रूपमें बदल जाती है। कभी-कभी इन्द्रधनुषी किरणें दिख जाती हैं—सतरंगी झिलमिलाहट। जालेमें एक अनोखा करिश्मा रहता है। विचित्र प्रकारकी डिजायन होती है। अपना

भोजन इकट्ठा करनेकी जीतोड़ कोशिश रहती है। यदि एक हल्का सा तिनका जालेमें उड़ा दिया जाय और वह फँस जाय तो मकड़ी का चातुर्य और कौशल देखने योग्य रहता है! उसकी दौड़-धूप, दुश्मनको फाँसनेकी उसकी छल-लीला फिर भोजनका परीक्षण और अंतमें तिनकेको पकड़कर बाहर फेंक देनेकी उसकी प्रणाली—सब रोचक रहती है।

और इन सबसे रोचक यह रहता है कि बीच-बीचमें, रीवाँ से इलाहाबाद आते समय मिले हुए आदमीकी याद कर ली जाय। बगलमें ही बैठा था वह व्यापारी—बसमें। बहुत टहला-घूमा था। जहाँ-जहाँ गया था, वहाँ की पूरियोंका मूल्य उसे याद था। बात-चीतमें वह बताए कि फलाँ जगहका खाना सस्ता होता है, फलाँ जगहका नहीं। कहींका रेलवे कुली सामान रखवाई इतना अधिक लेता है और कहींके इक्के इतने सस्ते हैं। जब मौका मिला तो उसके बगलसे उठकर जगह बदल ली थी।

यहाँ भी उसे शायद आमोंके भाव याद रहते, मनोरामा के किनारे पड़नेवाले सिसईके पेड़ नहीं।

नदीमेंका पानी कबका सूख चुका था। सूखी-सूखी जमीन थी। बस यह पता चलता था कि यहाँसे नदी बहती रही होंगी जब पानी था।

बढ़ा चला आ रहा था कि नदीके तीर पर एक गाँव दिखा। नदी किनारेके गाँव एक खास किस्मके होते हैं। तटसे दूर तो चाहे जैसा तल हो किंतु तटके समीप जो ढलान नदीकी ओर शुरू

होती है उससे यदि कोई गाँवकी ओरसे आये तो तुरंत पता पा जायगा कि आगे ही कोई नदी है।

किनारेके एक खेतमें भैंस का एक बच्चा गन्नेके पौदे चर रहा था। भैंसका बच्चा बड़ा भोला मालूम पड़ता है। मैंने बड़ी आत्मीयतासे कहा, "कहो पाँड़े, का सब चरि डरिहौ ?"

पर पाँड़ेने लिफ्ट देना ठीक न समझा।

धूप दो घड़ी चढ़ गई रही होगी। पर मैंने अभी तक पानी न पिया था।

गाँवमें पहुँच कर किनारेकी बगियामें रुका। झोला छाता रखा। थोड़ा-सा छँहाया। एक कुएँ पर पानी चल रहा था ढेंकुली से। कपड़े उतार कर, उसी कूँड़से नहा कर, गीली धोती फींच, सिर पर लपेट गाँवमें पहुँचे। पूछा लोगोंसे कि किसी ब्राह्मणका घर है ? पता चला कि नहीं है। फिर मुझसे पूछा गया कि क्या काम है बाम्हनके घरसे ?

"एक थाली चाहिए थी—सत्तू खाना है।"

"अहिरका घर है। बैप्नों है। ले लीजिए जाकर यदि मन भरे तो।"

अहिरिनि भक्त निकली। ओसारेमें चौका लगा दिया। गगरा भर लाई। लोटा भी। सत्तू सान कर अँगुलियाँ चाट ही रहा था कि वह महुएके पत्ते पर रख कर आमकी चटनी ले आई। बोली, "महाराजजी, नहा कर पीसी है।"

अच्छी बनी थी।

वह गई, मेरी गीली धोती पेड़की डालसे बाँध आई। हवा बह रही थी, धोती फहराने लगी।

अहिरके घरमें धर्म बसता है क्योंकि वहाँ गऊ माता होती हैं। जहाँ गऊ माँ होंगी, उनका पंचगव्य भी होगा।

सुनते हैं कि कलियुगमें मक्खियाँ भी धर्मपरायण होती हैं—पंचगव्योंसे प्रेम करने वाली। और ऐसा कभी सुना नहीं कि उन्हें सत्तू न प्रिय लगता हो। अहिरिनिने देखा तो बेना ले आई। सामने बैठ गई और डुलाने लगी। मेरे मुँहसे निकला, "अरे,"

"छुऊँगी नहीं महाराज जी।"

"ना ना, मैं कहता था कि तुम काहे तकलीफ करती हो। अपने कामका हर्जा न करो। मैं तो हाँक ही लूँगा।"

"अब इस सेवासे बढ़ कर काम क्या होगा!"

खाकर थाली उठा ली और खड़ा हो गया। उसने हाथसे थाली छीन ली। ले गई माँजने।

पेड़के नीचे एक खटिया पड़ी थी। जाकर लेट गया। करवट लेटा कि बाहरकी ओर देखूँ। थोड़ी देर लेटा रहा।

सामनेकी ओरसे दो आदमी आते दिखे—अहिर लगते थे। दोनोंने बड़े ध्यान, बड़ी उत्सुकतासे मुझे घूरा। वे निकल गये। पीठ पीछेसे बहुत धीमे स्वर सुनाई पड़े।

स्त्री कण्ठ—"का भया?"

पुरुष कण्ठ—"कुण्डली बनि गई।"

"कितना पढ़ा?"

"दस धराय लिए।"

"बहुत लिया।"

"काम भी तो कर दिया। बिलकुल पक्का पोढ़ा किया है। सभीसे इत्ता लेते रहे हैं।"

"चलो, यह देना सुफल होइ जाय तो जानें।···किसीसे पढ़ाय लिया है?"

"ना। किससे पढ़ाता!"

"महाराज जीसे पढ़वाती हूँ अभी।"

"कौन महाराज जी?"

"वो लेटे हैं।"

"अरे हाँ, पूछा ही नहीं। ये कौन हैं?"

"बाम्हन देवता। राही। जा रहे हैं कहीं। यहाँ दाना पानी, अस्नान परसन करने रुक गये।"

मुझे लगा कि अब वे लोग मेरे पास आयेंगे। मैंने आँखें बंद कर लीं।

"पंडितजी!" बहुत धीमा स्वर।

आँखें खोलीं।

"पालागी, पंडितजी।" बड़ी विनम्रतासे हाथ जोड़े।

सिर हिलाया आशीषके लिए।—"महाराजजी, यह जनम कुण्डली बँचानी थी।"

बड़ी मुश्किल लगी। अपनी कुण्डली तक आज तक नहीं देखी न किसीकी बनवाई। फिर उसका पढ़ना! राम बचाएँ। कैसे

बताया जायगा शुभ-अशुभ लक्षण ? जाने क्या-क्या तो होता है, उसमें। कुछ तो नहीं जानता मैं। फिर ?

हाथ बढ़ाकर ले ली कुण्डली।

लम्बे कागजपर ऊपर कुछ चक्र आदि बने हैं। उनमें कुछ लिखा है फिर संस्कृतमें कुछ लिखा है। अन्तमें दो तीन पंक्तियाँ हिन्दीमें। मनको सहारा मिला। नहीं तो संस्कृत सागरमें कैसे डूबता। हिन्दीके वाक्य पढ़ने लगा—

"···यह कुण्डली बनाई है आज तदनुसार ' ' को पंडित सालिगरामने सन्तू अहिरकी। यह प्रमाणित किया कि इसके अनुसार सन्तू अहिरकी उम्र आज तेइस साल सात महीने होती है। हस्ताक्षर पंडित सालिगराम पाठक। तारीख···"

उन लोगोंको बता दिया कि इसमें उम्रकी बाबत ऐसा-ऐसा लिखा है। सुनकर तीनों प्रसन्न हुए। एक बोला, "महाराजजी, अब काम हुआ भया समझो। बस भेजना भर रह गया। वह भी राम पार लगाएँगे।···"

खुशीका दिन था—कुछ उत्सुकता हुई कुण्डलीके प्रति। पूछा, "किसकी कुण्डली है ?"

"महाराजजी, यह हमारे बड़े भाईकी है।"

घोर आश्चर्यसे उसे देखा। चालीससे कम न रहा होगा। और इस चौबीस वर्षवालेको बड़ा भाई बताता है! शंका प्रस्तुत कर दी।

"बात यह है कि वह गया है बम्बई, नौकरी करने। उसकी

चिट्ठी आई है, उसमें लिखा है···यह लीजिए, आप बाँच लीजिए। हमें भी सुना दीजिए।"

जेबमेंसे मुड़ी-तुड़ी चिट्ठी निकालकर दी उसने—

"श्री पत्री जोग लिखी श्रीमान् भाई बद्री प्रसाद व भाई तोताराम व भाई भुलईको सन्तूरामके तरफसे राम राम यथोचितके साथ प्राप्त हो।···"

आगे संक्षेपमें कहूँ कि लिखा था कि यहाँ मेरी नौकरी लगनेवाली है एक साहबकी कृपासे। उसके लिए मैंने बहुत कुछ पैसा खर्चा किया है। जिन साहबके हाथमें यह नौकरी है, वह बहुत खुश हैं मेरे ऊपर आजकल। वो कहते हैं कि नौकरीके लिए उम्र पचीसके अन्दर की ही होनी चाहिए। इसलिए आपलोग जल्दीसे पण्डित सालिगरामसे एक कुण्डली बनवाकर भेज दो जिसमें उम्र कम लिखी हो। और ग्रामसभापतिके भी दस्तखत हों उसपर। लिखा हो कि यहींका रहनेवाला है यह सन्तू अहिर। और यह काम जितनी जल्दी हो जाय, अच्छा है। रुपएकी परवाह न करना चाहे जितना लग जाय—दस-बीस।

इसके बाद सन्तूके भाई भुलईसे पता चला कि कुण्डली तो बन गई ठीक-ठीक। यह पहली कुण्डली नहीं बनाई है पण्डित सालिगरामने। कइयोंकी नौकरी लगवा चुके हैं वे, इसी तरहकी कुण्डली बना-बना। अब सभापतिके दस्तखत होने बाकी हैं। फिर भेजना है।

भेजनेके विषयमें उसने मुझसे तरीका पूछा। मैंने डाकखानेसे रजिष्ट्री करनेका ढंग बताया। उसने जैसी शक्ल बनाई, उससे

लगा कि वह कुछ नहीं समझ रहा है। मैंने पूछा, "कितनी दूर है डाकखाना ?"

"यहीं करीब ही है। दक्खिन ओर।"

दक्षिण मुझे जाना भी था। कहा, "चलो, मैं करवा दूँगा। तुम निश्चिन्त रहो।"

सुनकर वह प्रसन्न हो गया। अहिरिनि बोली, "मैं तो जानती थी महाराजजीको कि हमारी कुछ मदद करेंगे ही।"

उसके वंदनसे संकोच लगा। कहा, "अच्छा जाओ, महतोको खाना-पीना दो।"

वे लोग गये तो फिर आँखें मूँद लीं। एक नींद सो भी लिया।

ग्राम सभापतिके हस्ताक्षर हो गये किन्तु मुहर न लग पाई। जातिके मुराव थे। घर भरमें प्याज भरी थी—सब उलट-पुलट डाला। पोथी, बस्ता, झोला, दवात, कलम तक देखा—पर मुहर न मिली। अन्तमें बोले, "डाकखाने चलते हैं, वहींके ग्राम सभापति की मुहर लगा दूँगा।"

उन्हें डाकखानेसे आगे कहीं और जाना था। उस ग्रामके सभापति हरिजन थे। वे मुहर देनेमें आना-कानीं न करें—इसलिए इसी ग्रामके एक हरिजन परभूको ले लेना उचित समझा गया जिसका उन सभापतिपर अच्छा असर था।

इस प्रकार हम तीन जने डाकखानेको चिट्ठीकी रजिस्ट्री कराने के लिए चले। विदा देनेके लिए सब लोग पेड़के नीचे खड़े हुए। सबके चेहरे चिंताकुल थे। अहिरिनि बोली, "हे डिउहारे बाबा!

सहाय लागो। जेठजीकी नोकरी सलामत करौ—तुम्हें सोहारी-लपसीका मानता मानती हूँ।"

भुलई बोला, "अरे! शुभ तो कर।"

अहिरिनि दौड़ गई घरमें। दहीका मटका ले आई और थोड़ा आगे जाकर खड़ी हो गई।

सोनेमें सुहागा! एक तो अहिरिनि, फिर सुहागिन और ऊपर से दही! एक साथ तीन-तीन शुभ! फिर भला काम होनेमें क्यों संदेह होगा।

"लाओ, रुपया-पैसा निकालो।"—सभापति।

चेहरे पर प्रश्नवाचक भाव भुलईके। माने—कितना?

"एक दहला तो दो ही। कुछ और लग जायगा तो लगा दूँगा। आगे-पीछे मिल ही जायगा।"

"लिया जाय, पण्डितजी।"

रजिस्ट्री करानेके लिए दस रुपए रखे।

रास्तेभर बातचीत करते हुए चले। ग्राम सभापतिकी कृपासे पंचायतराजके बारेमें अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया। उसमें कुछ तथ्य ये हैं: यदि कोई चमार किसी अन्य जातिवालेका बर्तन-भाँड़ा छू ले तो यदि बर्तन नया है तब तो वह नया बर्तन खरीद देगा नहीं तो आधा मूल्य देगा। यदि बड़ा भाई छोटे भाईकी स्त्रीको छू ले तो वह सारे गाँवको गुड़ बाँटेगा तभी अपराधसे छुटेगा। यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री पर अन्य पुरुषसे हँसने-बोलनेका आरोप लगाये और प्रमाण मिल जायँ तो स्त्रीपर पँचलत्ती बोली जायेगी।

परभुआ खेती करनेके अलावा एक नाच पार्टीमें भी था।

आजकल लगनका दिन था, इससे रोज दाढ़ी-मूँछ बनवाता था। पट्टे रखाये था। दिनमें वह कभी-कभी बीड़ीका प्रचार करनेवाली पार्टीमें भी जाता था। रातमें सँपेड़ा, नौटंकी, चमरौआ जैसी जरूरत पड़ जाय—वैसा खेला करता था। शरीरसे वह नचनिया जैसा मालूम पड़ता था। पतला छरहरा शरीर। नाक-नक्श जनानी। आवाज पतली। अच्छा गाता रहा होगा।

ग्राम सभापतिकी मुहर मिल गई। लगा कर, डाकखाने आये। खिड़कीमें से देखा तो डाकमुंशी किसी दोस्तसे बातें कर रहे थे। शिष्टता वश खिड़कीमें हाथ डाले एक मिनट खड़ा रहा। उन्होंने कोई ख्याल न किया तो मैंने दबी जुबानसे कहा, "बाबू रजिस्ट्री करानी है।"

दो बार कहने पर भी शहंशाह-ए-डाकघर अपने दरबारसे न उठ पाये तो खड़ी बोलीमें कहा, "श्रीमान् जी, कृपया मेरा भी एक काम करें।"

"ठहरो जी, देखते नहीं हो कि अभी खाली नहीं हूँ।··· कपार खा लिया।···" उन्होंने झल्ला कर कहा।

एकदमसे मैं अंग्रेजीमें आ गया और अपने पूरे गुस्सेके साथ, "मेरी समझमें नहीं आता कि तुम्हारे जैसा तुच्छ जीव जनताकी ओर क्यों न मुखातिब हो? तुम अपने आपको समझते क्या हो? तुम जन सेवक हो। इसलिए यहाँ नहीं बैठाये गये हो कि अपनी व्यक्तिगत गप्पोंसे ड्यूटी पूरी करो। मुझे शिकायत-बही दो, मैं अभी देखता हूँ तुम्हारी हस्ती!"

वह सदकेमें आ गया। हड़बड़ा कर मेरी ओर घूमा। दोस्त भी घबरा गया। खड़ी बोलीमें बोला, "जी आपको क्या चाहिए ? स्टाम्प ?"

अंग्रेजी—"कम्प्लेंट रजिस्टर। ताकि तुम्हारी ये हरकतें बंद हो जायँ।"

खड़ी बोली—"वह आप लीजिए। लेकिन आदमीकी मजबूरी भी तो समझिए।"

अंग्रेजी—"क्या मजबूरी ! यह सरकारी दफ्तर है—थिएटर नहीं। आप ग्राहक की ओर क्यों नहीं देखते ?"

खड़ी बोली—"मैं सुनने ही वाला था···"

खड़ी बोली—"क्या सुनने वाले थे ! मैं इतनी देरसे झींक रहा था···"

अंग्रेजी—"शर, आई वाज विजी इन ऐन अर्जेंट पीश आफ बर्क। दिश इज माई फरेन्ड। आई वाज टाकिन्ग विथ हिम।"

"अच्छा लीजिए, यह लिफाफा तौल दीजिए कि रजिस्ट्रीमें कितना लगेगा।"

एक रुपए एक आनेमें रजिस्ट्री करके जब मैं अपने दोनों साथियोंसे मिला, वे मेरे गुस्सेके कारण घबराए हुए थे। काम हो गया देख वे संतुष्ट हुए। समझे कि काफी जल्दी हो गया।

शेष आठ रुपए पन्द्रह आने जब मैंने उन्हें देनेको निकाले तो दोनों एक दूसरेको देख चापलूसीके ढंगसे हँसने लगे। मैंने उन्हें देखा—क्यों, क्या बात है ?

परभुआ बोला—"बाबू···"

बात पूरीकी सभापतिने, "कुछ पानी-वानी पिया जाय महाराजजी !"

मैंने अर्थ निकाला कि उन लोगोंको प्यास लगी है। पूछा, "यहाँ कोई हलवाईकी दूकान है क्या ?"

"हाँ, हाँ, कई हैं।"

एक ग्रामगीत है—

हलवइयाकी बिटिया बड़ी सुनरी
बेचत है खुरमा खुरमी

पर वहाँ उस हलवाईकी लड़कीमें ऐसी कोई बात न थी। काली धोती पहिने वह खुरमा नहीं काली-काली तेलही जलेबी बेच रही थी। हलवाई पास ही एक पेड़में ठोंकी खूँटीपर 'पट्टी' फेंक-फेंक खींच रहा था—बारासोला-गट्टा बनानेके लिए। महिला दुकानदार ग्राहकोंको दूकानकी ओर आकर्षित करनेकी बजाय अपना सतीधर्म निबाहनेकी चेष्टामें अधिक रत थी। सती लड़कियोंके चेहरोंपर कभी मुस्कानकी लेश भी नहीं झलकती है। चलती हैं तो मालूम पड़ेगा कि कितनी नाराज़ हैं। चालसे क्षत्रिय धर्म टपकता है। दृष्टिसे उनकी प्रबल इच्छाशक्तिका पता चलता है।

वह लड़की यों बैठी थी कि यदि यहाँ पर बम भी फट पड़े तो भी वह नहीं उठेगी। किसी भी ओर निगाह नहीं। सामनेके नल पर जमा हुई भीड़की ओर भी नहीं और बगलमें बर्रइयोंकी मिठाई की गुणगान करती हुई—उड़नेवाली पंक्तिकी ओर भी नहीं। तो फेर हम क्या हस्ती थे।

लोगोंका ख्याल है कि तिरस्कारसे प्रेम उद्दीप्त होता है। मेरे मनमें तिरस्कारसे तिरस्कार उत्पन्न हुआ। परभूसे बोला, "यहाँ बन्दर तो नहीं लगेंगे ?"

हलवाईकी ओर मुँहकर चिल्लाया, "अरे साहु, कुछ सौदा दोगे ?"

"काहे नहीं बाबू।···दे रे बच्ची, तौल जो माँगँ बाबू।"

मैंने अपनी अँगुलियोंके नाखूनोंको देखते हुए कि मालूम दे कि देख रहा हूँ कि काटने लायक हैं या नहीं, कहा, "एक-एक पाव जलेबी दो जगह।"

परभू और भुलईको जलेबी दिलाकर स्वयं चार पैसेका बताशा लिया और बगलके तख्तेपर जा बैठा। परभू बोला, "सभापति, बाबूने जलेबी नाहीं ली।"

"बाम्हन हैं रे। अब्जही मिठाई कैसे खायँगे ?"

लड़कीने यह सुन कहा, "खोवा रखा है, बाबू! दूँ ?"

नजर उठा देखा उसे। अबकी बार भावमें अन्तर था। मिस्सी लगे दाँतोंकी हल्की-सी झलक भी दिख गई। नाकसे झूलती सोने की छोटी-सी नकबुल्ली। बड़ी-बड़ी आँखोंमें काजलकी सीमारेखाओं में कुछ आग्रह था। दूधसे बनी चीजें मेरी दुर्बलता हैं। कहा, दे दे आध पाव।"

दोनेमें आध पाव खोवा और ऊपरसे बुकी हुई चीनीका बूरा डालकर वह ले आई। दूकानसे उतरकर देने आई तख्ते तक।

परभू और भुलई सामने जमीनपर बैठे खा रहे थे। खाकर वे

नलपर चले गये, पानी पीने। मेरे लिए लड़की पीतलके लोटेमें पानी ले आई।

पन्द्रह आने पैसे चुकाये उसके और आगे बढ़ा। परभूको हिसाब समझाने चला तो सभापति बोले, "पंडितजी, दो रुपए तो यही हो गये मिठाई और रजिस्ट्री मिलाकर।"

प्रश्नभरी दृष्टिसे उसे घूरा। पर वह जड़ था। समझा नहीं। बोला, "हें हें हें, पंडितजी, एक इस परभुआको दे दीजिए। तीन मुझे और चार आप ले लीजिए। क्यों रे परभुआ ?···हें हें···"

परभुआ बोला, "दसों रुपयोंका हिसाब हो जायगा।···"

सभापति—"जब जब जनम-कुंडली भेजी है बम्बईको, दस रुपए लग गये हैं रजिस्ट्री करनेमें। अबकी कम कैसे लग सकते हैं ?···हें हें हें···"

मैंने तीन रुपए उसे देते हुए कहा, "तुम्हें जाना है कहीं को न् ?"

"हाँ, सरकार।···पालागी।" बहुत झुक कर उसने पैलगी की।

"आओ परभू, तुम हमारे साथ चलो।"

गाँवसे बाहर निकल मैंने उसे एक रुपया दे दिया। वह बोला, "आपको रास्ता दिखा दूँ, चलकर ?"

"नहीं। मैं भुलईसे मिलूँगा अभी।"

दोनों जने पलटकर गाँव पर आये। भुलई लेटा था चारपाई पर। उठ बैठा। उतर कर खड़ा हो गया। बोला, "हो गया पंडितजी ?"

परभुआ बहुत सशंक होकर देख रहा था। मैंने कहा, "हाँ। यह लो रसीद। एक रुपया एक आना लगा। बाकीके आठ रुपए पन्द्रह आने ये लो।" कह मैंने नौ रुपए दिये उसे। इकन्नी वापस माँगी। वह गया घरमें से इकन्नी ले आया। माँग कर मैंने पानी पिया और चल दिया। चलते समय भुलई खड़ा था हाथ जोड़े—बहुत तकलीफ दी सरकार आपको।

परभूका पता नहीं था।

●●

# फुलवा एक महकिया तीनि

गाँवसे निकल कर नदीके किनारे-किनारे बाँएँ तटसे आगे बढ़ा।

धूप तेज थी, छाता लगा लिया। यों धूप सह सकता हूँ किंतु जेठकी खोपड़ी पर चिटका घाम असाढ़में पानी बरसनेके बाद सिर दर्द पैदा कर देता है। इसलिए अकारथ ही हठयोगी बननेसे क्या लाभ ?

इधर नदी-तीरे कुछ-कुछ हरियाली शुरू हो गई थी। यों पानी सूख गया था। अधिकतर तट रेह वाला ही था। पर उसी में मोथा, सरपत आदि था।

आध मीलके लगभग चल कर सिरसेके एक बड़े घने पेड़के नीचे खड़े होकर छँहाने लगा।

तभी हाँफता हुआ आकर खड़ा हो गया परभू। मिनट भर तक खड़ा-खड़ा साँस लेता रहा जोर-जोरकी। दौड़ कर आया था।

माथेसे पसीना बह कर गालों परसे होता हुआ नीचेको ढरक रहा था।

टेंटमें से एक रुपयेका नोट निकाल बोला, "सरकार, यह अपना रुपया लेलें।"

"अरे ठीक है। इसके लिए तुम उतनी दूरसे दौड़े आए।"

"बाम्हनका धन ना खाया जायगा, मालिक।"

मैंने रुपया ले लिया। वह बोला, "महाराज, मैं तो वहीं कहने वाला था कि ऐसा ना चलेगा। पर सभापतिने मेरे भी कुमति भर दी। आपने तो उसका हिस्सा भी भरा, मेरा भी और मीठेका दाम भी।"

मैं मात्र मुस्कराया। वह बोला, "मैं तो मालिक तभी समझ गया कि आप कोई ग्यानी महातम हैं जब आपने अँडरेजीमें डकमुंसियाको डाँटा।"

प्रशंसा बड़ी मोहक लगी। और सुननेके ख्यालसे कहा, "भाई, आदमीको ईमान नहीं छोड़ना चाहिए। देखो, शास्त्र पुराण में लिखा है···"

सातवीं कक्षामें संस्कृत पढ़ी थी। उसीका एक पाठ रट डाला था, कुछ पंक्तियाँ अभी तक याद थीं। कुछ संस्कृत श्लोक भी याद होते रहे थे।

कहा, "लिखा है—

**कस्मिंश्चिद् अरण्ये एकदा श्रृगालः प्रतिवसतिस्म·····यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रंमते तत्र देवताः···रामः रामौ रामाः रामम् रामौ रामान·····**

·····मतलब यह कि जो आदमी धर्मका मार्ग नहीं छोड़ता है,

उसे सदैव स्वर्ग मिलता है। उसीकी आत्मा सुख पाती है। बेईमानी बड़ी बुरी चीज होती है।...''

''जी, महाराज जी !''

''और तू तो भाग्यवान् पुरुष है। तेरे मस्तक पर ही भाग्य की रेखा है। तू क्यों करे बेईमानी ?'' उसके माथेको पकड़ मैंने थोड़ा सिकोड़ा।

वह प्रभावित हुआ। हाथ आगे बढ़ा बोला, ''महाराज जी, हाथ भी देख देते।''

उसकी हथेली पर मिनट भर तक दृष्टि गड़ाये रहा। फिर कहा, बड़ा अच्छा हाथ है। शुक्र, शनि, बुध, मंगल, सोम सभी ग्रह ठीक हैं। चक्र शंखकी प्राप्ति है। तेरा स्वभाव अति उत्तम है। लेकिन लोग तुझे बुरे स्वभाव वाले मिलते हैं। इसीसे तेरा मन कभी-कभी उदास हो जाता है।...तुझे कई स्त्रियाँ जीजानसे चाहती हैं। बचपनमें एक लड़की तुझे बहुत मोह करती थी। अपनी स्त्रीके अलावा भी कई स्त्रियोंसे तेरा सम्बन्ध रहेगा। तुझे चिंता बहुत रहती है। उनसे बचा कर।...''

''महाराज जी, आप सब ठीक कहते हैं। आपको धरम जोगी देख मैंने अपने आप सब बता देनेकी सोची थी। चिंता तो मुझे बहुत रहती है। देखिए, तंदुरुस्ती गिरी जा रही है, उसीसे।...आपसे कुछ न छिपाऊँगा मालिक। आप जो कहेंगे, वैसे ही चलूँगा। धरमका मारग दिखाइए, मालिक। मैं परेशान हूँ।...''

उसने झुककर पाँव पकड़ लिए। मैंने यह न जाना था कि

वह इतना भावुक होगा। आदमीके मनमें इतना छल होता है कि वह इतने शीघ्र बदल नहीं सकता---अपनी दुर्बलताओंको स्वीकार नहीं कर सकता।

उसकी पीठ पर हाथ फेरा। कहा, "क्या कष्ट है तुम्हें! घबराओ नहीं। सब ठीक ही चलेगा।"

"वह कुछ आश्वस्त हुआ। पास ही कुछ ईंटें पड़ी थीं। उन्हें उठा लाया वह। बोला, "बैठा जाय थोड़ी देर। ऐसे न कह पाऊँगा।"

मैं नहीं बैठा तो वह बोला, "आप रुकें मालिक, मैं खटिया ले आऊँ। जभी बैठिए।"

"अब उत्ती दूरसे खटिया लाने जायगा? रहने दे, ऐसे ही कह।"

"गाँवसे नहीं लानी मालिक। यह बगलकी बगियामें भाई रखवाली करता है। उसीसे माँग लाऊँगा।"

"जा।"

वह दौड़ गया और पाँच मिनटमें एक खटोली लेकर लौटा। मैं उस पर बैठा और वह जमीन पर। पाँव पकड़ बोला, "देवता, आप थके होंगे।"

मैंने पाँव खींच लिए---नहीं।

उसने आगे बढ़ पाँव धर लिए। बोला, "नहीं सरकार। धन्य भाग जो गुरुचरनन कहँ पाऊँ।"

मनमें बड़ा वैसा सा लगा कि मुझे गुरु बना लिया। कहा मैंने, "हाँ तो बोल। जो पूछना हो पूछ।"

"मालिक, मैं जातिका चमार हूँ। आपको छूकर अपावन किये दे रहा हूँ। पर जानिए आप मुझे हरदम धरम मारगकी चिंता लगी रहती है। उसीके लिए सत्संग ढूँढ़ता हूँ।..."

उसने पैर दबाना शुरू कर दिया। एक मिनट बाद बोला, "अच्छा महाराज जी, यह बताइए कि अपनी जनाना छोड़कर दूसरेकी इर्ष्यासे हँसी मजाक करना क्या पाप होता है ?"

"कभी होता है, कभी नहीं होता।"

मिनट भर रुक बोला, "अच्छा मालिक, कहते हैं कि हम लोगोंमेंसे कोई बाम्हनकी कन्याको बुरी नीयतसे देखे तो उसे नरक होता है। तो सरकार, यह बात सिर्फ बाम्हनकी लड़कीके लिए होती है या और लोगोंके लिए भी ? जो कोई ठाकुर, कायस्थ, बनिया होते हैं उनकी लड़कीको भी वैसी निगाह देखनेसे नरक मिलता है क्या ?"

"कभी मिलता है, कभी नहीं।"

वह पैर दबाता रहा। जरा रुक बोला, "महाराजजी, एक चिट्ठीका जबाब लिख देंगे ?"

"कहाँ है ?"

उसने जेबसे एक पोस्टकार्ड निकाला। पुराना पड़ रहा था। महीन-महीन अक्षर। मैंने जोरसे पढ़ सुनाया—

सोस्ती सिरी बहनोईजीको चीठी लिखी उनकी साली चमेली देवीने आगे हाल अच्छा है और आगे आपको मालुम हो कि आप जाकर हमें भुल गये हमारा सरीर यहापर है लेकिन परान आप और बहिनको सपना हम बराबर देखती हु सोतेमें सपना देखती हु निद टुट जानेपर हम कोई

नही देखाई पड़ता है पहुना तुम्हारी बात जब २ हमकां याद आती है तब २ ऐसा दिल करता है कि कहा जाव कि आपका दरसन मिल जाय आप यही लिखीये कि कब आयेगे पहुना हमारे कहनेसे १ दिनके लिए हमारे यहा जरूरी चल आइए आप हमारे नैनसे तनिक नही उतरते है आपके पास हम पत्र बराबर देते आप पत्र भेजनेमे देरी क्यो कर देते है आप अपने दिलका पुरा हाल लिखकर और लिफाफामे बन्द करके भेजना और आपको जिस दिन आना होगा वह लिखना कि हम आयेगे और आप आइए कि आपसे मुलाकात हो जाय आगे कौन जानता है कि कब हमे ससुरे चले जाना हो जब तक आप नही आयेगे तब तक दिलका अरमान नही मिटेगा अब क्या लिखु पत्रका जवाब जरूर २ से देना हम पत्र खुनसे लिखती है स्याही नही

दोहा

१ = पाती लिखे से क्या होता है बिन देखे नहि चैन
सन्ग बैठ के बाते करू, कि तब सुख पावे नैन
२ = पाती लिखु गुलाब कि, बिचे लिखु सलाम
जा दिन से बिछुड़न भये, निद हो गई हराम

हमारे दोहेका जवाब जरूर देना मै पत्र अपने खुनसे लिखी हु आपका चमेली देबी

परभू बोला, "बाबू , इसका जवाब खूब बना कर लिख दें। अपनी साली है। पता नहीं क्यों जान देती है। मैं इसे तो चाहता नहीं हूँ। लेकिन यह चाहती है, इसलिए मुँह भी नहीं मोड़ सकता। लिख दें कि तुम्हारा चेहरा हमारी आँखोंके सामने बराबर घूमता रहता है। हम समझते हैं कि हम तो मर रहे हैं पर तुम हमें भूल गई हो।..."

"एक बात बता परभुआ। जब तुम इसे नहीं चाहते हो, तो क्यों बझा रहे हो, इतना सब तिकड़म ? अलग क्यों नहीं रहते हो ?"

"पंडितजी, मन ही नहीं मानता। यह समझमें ही नहीं आता कि जब एक आदमी इतने दिलसे चिट्ठी लिखता है तो मैं ही कैसे पीछे रहूँ। उसे क्लेश नहीं होगा।"

ठीक तो कहता है यह। दूसरेको क्लेश कैसे पहुँचाये ? कहा, "लेकिन परभुआ, यह तो तेरी जातिकी है। तू क्या पूछता था कि किसी और जातिकी···"

"वह दूसरी है महराजजी। इसी बजारकी एक हैं सहुआइन। वे बहुत चाहती हैं। मैं जाता हूँ वहाँ बीड़ी बेचने। वे जाने क्यों हमारे जैसे चमरकट्ट पर किरपा किए रहती हैं। मैं तो बहुत डरता हूँ, मालिक। मैं नीची जातिका चमार हूँ। वो हैं बनिएकी। भगवान जरूरसे पाप देखते हैं। पता नहीं क्या सजा मिलेगी हमको मरनेके बाद। कभी-कभी बड़ा अजीब-सा लगता है, महराजजी। मैं तो जनानी पोसाक पहिर कर नाचता हूँ। चारों ओर भीड़ लगी रहती है। जो ही आता जाता है, एक नजर भर देख लेता है। सोचता हूँ कि अगर मैं अपनी पोसाकमें खड़ा हो जाऊँ तो क्या कोई रुकेगा। जनाने भेख पर लोग क्यों जान देते हैं ? सचमुचकी जनानी पर शायद ना मरें। मैं जो लाल-लाल रंग पोत कर खड़ा होता हूँ, रबरकी छाती लगाकर सीना ऊँचा किये रहता हूँ, इसीसे भीड़ लगती है, शायद। भीड़में औरतें भी आती हैं। जाने कैसा-कैसा सा लगता है यह सोच कर कि मैं उन औरतों

को ताकता हूँ, लोग मुझे ताकते हैं और सहुआइन मुझ पर जान देती हैं।...''

जब वह मेरे सामने यह सब बयान कर रहा था, मेरे मनके सम्मुख एक तस्वीर बन रही थी—

कहाँ लइकै जइहौ रामाऽऽ...

सुर खतम करते ही परभुआ फिरिंगी जैसा घूम जाता है। घुमरता है, घुमरता है। लँहगेकी गोट गाँठोंके ऊपर तक फैल जाती है और होरिया ढोलक वाला ताबड़ तोड़ कई ताल दे चुकता है तब जैसे परभूको होश आती है। रुकता है और कन्हई हारमोनियम वालेकी ओर एक हाथ बढ़ा उसकी आँखसे आँख मिला गाता है—

हो जुलुमी नयनवाऽऽऽ...
होऽरामाऽऽ...

तमाशबीनोंमें से एक लड़का बगलवाले लड़केके कुहनी मार बोलता है, "अबे देख पूरी जनानी पोसाक पहिरता है यह परभुआ।"

बगलमें खड़े साइकिलके मिस्त्री अपने आपमें बोलते हैं, "ऐसे कलजुगी हो गये हैं ये साले लौंडे...''

परभुआ तिरछी निगाहोंसे सहुआइनको देखता है। सहुआइन पंखेकी डंडीसे पीठ खुजलाती होती हैं। अभी-अभी पानकी गिलौरी मुँहमें डाली थी। गलुक्का फूल आया है। पानकी राल रोकते रोकते वे जरा-सा तिरछे कोनोंसे मुस्कराती हैं।

परभुआ इतनेमें ही तो कट जाता है। निहाल हो हो जाता है और कूल्हे मटका-मटका बोलता है, "पीओजी पीओ नम्बर दसकी बीड़ी।"

उसके सभी साथी एक स्वरसे बोलते हैं, "हाँ जी, हाँजी, पीओजी, पीओजी नम्बर दसकी बीड़ी।"

फिर वही रोजवाला काम शुरू होता है। होरिया पाँच मिनट तक नम्बर दसकी बीड़ीकी रटी हुई गुणावलियाँ सुना जाता है और फिर सब खिसक जाते हैं पानवाले या और कहीं किसीके पेड़की छाँहमें— नीमकी।

परभुआ उठ आता है साथियोंके बीचसे। होरिया कन्हईसे कहता है, "यह परभुआ सहुआइनपर मरता है।"

परभू आकर सहुआइनसे बोलता है, "इत्ता पान ना खाया करो कि मालूम पड़े कँवलाका फूल है।"

लजा जाती हैं। नखरेसे बोलती हैं, "चल हट दाढ़ीजार। मखौल करता है!···"

आँखोंमें झाँकता हुआ कहता है, "सच्ची बात जो कहूँ, तुम्हारी कसम!"

"चलो, हटो।"

परभुआ कहता है, "बाबू, मुझसे किसी सौदेका दाम नहीं लेतीं वह। कल एक किलिप लाया था, मेहरिया लगाकर घूम रही है, उसका पैसा नहीं लिया उन्होंने। चीनी भी एक आनेकी ली, वह भी वैसे ही···"

मेरी तस्वीरमें जुड़ता है—

परभुआ कहता है, "अच्छा सहुआइन, एक किलिप दे दो मोर छापवाला और एक फूलवाला।"

सहुआइन हेयर क्लिपका पत्ता फेंक देती हैं। कहती हैं, "तेरी आदत पड़ गई है मजाक करनेकी।"

"एक आना ?"

"तुझसे आज तक लिया है ?"

आँखों ही आँखोंमें मुस्कराता है परभू और चल देता है। सहुआइन दुखी होती हैं। बोलती हैं, "सुन रे, फिर कब आयेगा ?"

पलटता है परभू, "आधी रात आऊँ ?"

"चुप बेइमान।"

परभुआ फिर चलता है। बोलती हैं, "साहू गये बड़ी मंडी।···परसों आयेंगे।"

"तो कल आऊँगा।" रुक कर बोलता है।

नीची निगाह कर धीमे स्वरमें बोलती हैं, "परभू, थोड़ा इधर उधर निगाह दौड़ा लिया कर। चार जनोंको देख यहाँ मत आया कर। कोई साहूसे भिड़ा दे तो वो हमारी चमड़ी ही उधेड़ लें।···"

"सहुआइन, चार पैसेकी शक्कर दो तो।" कुर्तीकी जेबसे पैसे निकालता कहता है।

सहुआइन पुड़िया उसकी ओर फेंकती हैं और कहती हैं, "पैसे धर जेबमें। मेहरियाको दिखाना।"

परभुआ खिसक आता है।

"हाँ, तो बोल क्या लिख दूँ तेरी चिट्ठीमें ?"

"मालिक एक तो दोहा लिख दें :

**कोकिल गज कुट कामिनी, बोलत मधुरी बैन**
**सपनेमें दुख देत हैं प्यारी तोरे नैन**

और अपनी ओरसे बना-बना कर लिख दें। और यह भी लिख दें कि खटाई बनाकर रखना। जब आऊँगा तो लिए आऊँगा। तुम्हारी बहिनको खटाई बहुत अच्छी लगती है। और सब हाल-चाल लिख दें।..."

डायरीमें से एक कागज फाड़ कर चिट्ठी लिखने लगा। वह एहसानमन्द हुआ, इससे बोला, "महाराजजी, आप मिल गये। इतना काम हो गया। नहीं तो किससे करवाता।"

उसकी प्रशंसासे संकोच लगने लगा। इसलिए बात बदली, "आजकल कहीं पारट नहीं कर रहे हो ?"

"क्यों नहीं मालिक ! यहीं आगे ही तो सुझौली गाँव है। वहीं आज रात सँपेरा नाच है। और लोग खेमा गाड़ रहे होंगे। जगह ठीक करेंगे। मैं भी पहुँचूँगा टाइमसे।"

"काहेका खेला है ?"

"धोबी धोबिन और लैला मजनूँ में ही रात बीतने लगेगी। और कुछ भी शायद दिखा दें।"

नाच देखने की लालच लगी। कहा, "मैं भी रुकूँ ?"

"रुकिए मालिक ! देखिएगा, कैसी पार्टी है। नई खोली है अभी। जरूर रुकिए।"

"अरे नहीं। मौका नहीं है।"

"नहीं मालिक !"

"अच्छा देखूँगा अगर टाइम मिल गया तो।"

चिट्ठी लिखने लगा। जिस रसमें बह कर चिट्ठी लिखी वह लोगोंको बेकरार करके दर बदर चक्कर कटाता है—

आशिकारां शस इलामत ऐ पिशर
रंग जर्दो आह सर्दो चश्म तर
इंतज़ारी बेक़रारी दर ब दर

तो फिर यदि उसने मुझे वहाँ बिठाए बिठाए साढ़े पाँच बजवा दिए तो आश्चर्य न होना चाहिए।

इस देरी और नाच देखनेकी रुचिके कारण रात सुझौलीमें ही बितानेकी सोच ली। परभूने रास्ता दिखा दिया। नदी तीर होकर ही जाता था—अपने मार्ग पर। बोला वह, "आप चलें। मैं भी आता ही हूँ अभी।"

मार्गका ऐकान्त्य मुझे प्रिय है। कुछ सोचते हुए चलनेमें बाधा नहीं पड़ती है। जल्दीसे चला।

आधे घंटेका मार्ग है वहाँ से सुझौली। नदीके उस पार। नदी किनारेकी बगियामें ही बरात टिकानेकी व्यवस्थाकी गई थी। अभी आई न थी। किसी बगलके गाँवसे ही आनी थी, इसीसे थी देरी। नाचवाले तख्ता जमाने, स्टेज तैयार करनेमें लगे थे। शामियानेवाले भी आ गये थे बाँस आदि गाड़ रहे थे।

बरात आनेके पूर्व गाँवके लड़के जनवासेकी जगह इकट्ठे हो जाते हैं। एक खास किस्मका समाँ होता है। दो चार लड़के अकारण ही हाथापाई करते होते हैं। कोई आठ-दस सालकी लड़की गोदीमें एक बच्चा लिये उसे शामियाना गड़ता हुआ दिखाती है। दो-तीन लड़के इस फिराकमें रहते हैं कि लकड़ी का हथौड़ा मिल जाय तो हमीं खूँटा गाड़ें और शामियानेवाले कृपाकर उन्हें दे भी देते हैं।

जनवासे और गाँवमें अधिक दूरी न थी। बीचमें एक शिवाला था। पक्के चबूतरे कई बने थे। कुआँ भी था। हरे-भरे कुंज थे और स्थान रमणीक था—कनैल, केवड़े, गुलेचिन, चम्पक, आँवले, अर्जुन, स्थलपद्म; अगस्त्य आदिके पेड़ोंसे भरा-पुरा।

वहींपर बातचीत होनेपर पता चला कि एक साथ तीन विवाह यहाँ पड़ रहे हैं। दो लड़कियोंके, एक आज और एक कल। कल ही एक लड़केकी बरात भी यहाँ से जानी है। सब ब्राह्मणोंके यहाँ के विवाह।

वहीं कुएँपर हाथ-मुँह धोया और एक चौकीपर लेट रहा, बिना थकानके ही।

रात नौ बजेसे असली खेला शुरू हुआ। पहिले तो इधर-उधर के कहँरवा और दादरा आदि होते रहे। मैंने चार-पाँच लिखे भी। फिर 'धोबी-धोबिन' का पारट। परभू धोबिन बना था। धोबी बड़ा छैला था, गट्ठर लादे। एक आदमीको गदहा

बनाकर पीछे हाथों-पावोंपर खड़ाकर रखा था। पहले धोबीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—

शारदा भवानी मइया कंठे बसीं मोर
दहिने रहयँ महाबीर।
श्रीगनेश जी नैना बसे
औ हृदय बसे रघुबीर।

धोबिन—बैठे सूते तनि सीताके सुमिरो
हो रामके गोड़वा क धूरि।
लछमन जी के चूमो चरनवा
कि अकिल देयँ भरपूरि।

कुछ देर इसी प्रकार स्तुति चलती रही। फिर धोबीने एक लात गधेको मारी। गधेने रेंकना शुरू किया। तब धोबिन बोली—

अ र र र र र र तूँ के हौ?

धोबी— औ तूँ के हो?
कहवाँ धोबिन तोर अउनन सउनन
कहवाँ बाय तोर घाट?
कवन नगरिया मँ असन बसन तोर
केकर जोहत हए बाट?
हाय राम केकर जोहत हए बाट···

धोबिन— बँसवा क खूँटी मोर अउनन-सउनन
गंगा जमुन बिच घाट।
अवध नगरिया मँ असन-बसन मोर
सइयाँ क जोहत हई बाट।
हाय राम सइयाँ क जोहत हई बाट···

नगाड़ा— धिन तड़ी यणी यणि यणि अणि अणि अणि···

धोबी— छैल छबीली रसीली धोबिनियाँ
काहे परी हए पाट ?
मोट-मोट रोटिया पोये रे बरेठिन
भिनहीं चलय क बाय घाट ।
हाय राम भिनहीं चलय क बाय घाट ।

धोविन— तोरे घाट ना जाबूँ बरेठा
कि तोर बिछलहरा घाट
हाय राम तोर बिछलहरा घाट···

नगाड़ा— धिन तड़ी यणी यणि यणि अणि अणि अणि···

धोबी— मोरे साथ तैं चल रे बरेठिन
धोइबूँ कपड़वा तोर
हाय राम धोइबूँ कपड़वा तोर

धोविन—तोरे साथ ना जाबूँ बरेठा
कि तैं करिया मैं गोर ।
हाय राम तैं करिया मैं गोर...

नगाड़ा—धिन तड़ि यणि यणि अणि अणि अणि अणि अणि...

धोबी—करिया करिया ना कहु बुजरी
कि करिया सिरी भगवान ।
हाय राम करिया सिरी भगवान...

इसी प्रकारसे दोनोंका सवाल जवाब होता रहा । आगे चलकर इन सवालों और जवाबोंमें शास्त्रीयता आगई कि जैसे धोबिनने पूछा कि किसके हाथमें तीन हथेली हैं, किसके पाँच पंजर हैं, किसके पेटमें छत्तीस कलेजे हैं और किसके बावन आँखें हैं ?

धोबीने जवाब दिया कि बेलपत्रके हाथमें तीन हथेलियाँ हैं, नींबूके पाँच पंजर हैं, कटहलके पेटमें छत्तीस कलेजे हैं और चलनीके बावन आँखें हैं।

बहुतसे प्रश्नोत्तरोंके बाद धोबिन हार जाती है और धोबीके पीछे-पीछे चल देती है। धोबी उसे गधे पर बिठाता है और स्टेज परसे हाँक ले जाता है।

स्टेज पर एक कँहरवा शुरू हो गया—

**गोरी जुलुमी तोर नयनवाँ,**
**मोर परनवाँ लइगै राम!**
**गलवा चिरईके गोदनवाँ,**
**मोर परनवाँ लइगै राम!**

मैंने सोचा कि चलकर इनका ग्रीन रूम देखा जाय। इससे सामनेसे खिसक पीछे पहुँचा। कनात घेरकर एक छोटीसी आड़कर ली थी नचनियोंने। उसीमें लालटेनकी रोशनीमें सब सजबज रहे थे। हरा लाल, सुआपंखी लँहगा, रंगीन छींटका दुपट्टा, तरह-तरहके बिलाउज, लाल रोगन, चमकीला पौडर, टिकुली, कंघी, टीन मढ़ा शीशा आदि आदि।

परभुआ व्यस्त था, मैंने देखा। मेरी ओर किसीने ध्यान न दिया। बहुतसे लड़के और औरतें सबको घेरे हुए थीं। परभुआ अपने आपसे बोला, "कितनी गरमी है, राम!"

सामनेकी औरतोंमें कुछ खुसुर फुसुर हुई। एक जरा जोरसे बोली, "तो खड़ी ताकती का है, हरजाई! जा न्, हाँक दे।"

थोड़ी-सी प्रेममयी धक्कमधुक्की हुई और औरतोंने एक स्त्रीको सामने धकेल दिया। एक बुढ़िया बोली, "ए परभुआ, देख तो जरा इसका छिनरझप्प ! सात मूस खायकै बिलारि भई भगतिन !"

"तुम तो दीदी···" नखरेसे उस स्त्रीने कहा जो सामने ठेल दी गई थी और सामने पड़ी साड़ी लपेटनेकी दफ्ती उठा कर परभुआ को हाँकने लगी। परभुआने एक नजर उठा कर देखा और फिर साड़ी सहेजनेमें लग गया। बुढ़िया बोली, "अब अच्छा लगता है ! जिस पेड़का बोकला, उस पेड़ लगेगा ही। इसमें लाज काहे की ! अपना ही तो आदमी है···"

अब देखा परभुआकी मेहरीको। तेल छोप, बाल सँवार कर पाटी पारे थी। माँग टीके थी। फूल और मोर छापवाला किलिप लगाये थी। देह पर छींटका सलूका, पीली धोती।

उसे एक हिचकी आई। बोली, "दीदी, कल चीनीका शर्बत पी लिया तो अब जब-तब हिचकी आती है।"

"अरे चल ! नइहरमें तेरा यार होगा या तेरा कानपुरी बहनोई होगा, उसीसे फँसी होगी—वही याद कर रहा है। बात बनाती है !"

स्त्री मुस्कराई। परभूने दृष्टि उठा पत्नीको देखा और कहा, "अब रहने दे रे।"

वह हाँकती रही। परभुआने सलूकेकी जेबसे कुछ नोट निकाले। उसे देते हुए कहा, "ये बयाना मिला, था लेती जाना।"

उसने ले लिया। अन्य स्त्रियाँ मुस्कराईं। एक बोली, "जाकर किसी यारको दे देना।"

परभुआ बोला, "बाकी कल देनेको कहा है।"

मुझे अकस्मात् लगा कि जैसे, सहुआइनने कहा होगा—"परभुआ, तू चीनी और किलिपका दाम देनेकी जिद क्यों पकड़ जाता है!"

परभुआने ओठ बिदोरे। ठीक उसी तरह, जैसे उसने कुछ घण्टों पहले चिट्ठी लिखाते समय एक बार बिदोरे थे। लिखाया था—"खटाई बना कर रखना। जब आऊँगा तो लिये आऊँगा। तुम्हारी बहिनको खटाई बहुत अच्छी लगती है।..."

क्यों नहीं अच्छी लगेगी खटाई! चीनीका शर्बत पीकर किलिप लगाने वालीको जरूर अच्छी लगेगी। नाचका पारिश्रमिक खाने वालीको क्यों न अच्छी लगेगी!

मेहरिया एक हाथसे अपनी धोतीका खूँट पकड़ बोली, "ए जी, सुनते हो! यह धोती फटनेवाली है। अब हमसे नहीं पहिरी जाती यह जोड़ा धोती। कल एक इकलाई ले आओ।..."

परभुआने जैसे सुना ही न हो। उसका ध्यान दूसरी ओर था। बोला, "सिरीरमवा, कँहरवा खतम हो गया का?"

स्टेजपर दूसरा गाना शुरू हो गया था। मेरा पुराना सुना हुआ था। यों अर्थ था—

नदी तीरपर आलीका एक पेड़ है। पेड़में फूल लगा है। केवल एक फूल। पेड़के नीचे एक तिरिया

खड़ी है। उसकी नाकमें लौंग है। केवल एक लौंग है। पासमें उसका पति लेटा है, सो रहा है खर्राटा भर-भरकर। स्त्रीकी बाँईं अलङ एक अन्धा बैठा है। उसके बाएँ हाथकी हथेलीको चूमे जा रहा है अन्हरा। दाहिनी ओर एक छैला खड़ा है। छैलेके आँखें दो हैं। पर दृष्टि एक। उससे वह चुपचाप उस तिरियाको देख रहा है, देख रहा है। तिरिया है कि आछीका फूल ताक रही है। तिरियाका छरहरा शरीर एक है बाँसकी कइनिकी तरह। पर उसमें लचक तीन हैं। बड़े अचरज की बात है कि आछीके पेड़में फूल एक है पर उसमें महक तीन हैं। एक फूल और तीन महक!

सब चुप हो सुनने लगे कि क्या गाना चल रहा है। स्टेजपर से आवाज आ रही थी—

**तिरिया एक नजरिया तीनि**
**फुलवा एक गमकिया तीनि**
**हाय राम! फुलवा एक…**

●●

८

# सोहाग बाढ़ै मोर

लैला मजनूँका खेला देखे बिना ही वहाँसे हट गया। भूख लग रही थी। बराती पूरियाँ खानेकी तैयारियाँ कर रहे थे। बड़ी बरात थी, मनमें आया कि एक बार घुस चलूँ, खाकर चल दूँ—कौन समझ पाता है, पर ऐसे कामोंके लिए बड़ी हिम्मतकी जरूरत है।

खेत खेत चलकर शिवाले में आया। आँखें अंधकारकी अभ्यस्त हो गई थीं। कुएँ पर सार्वजनिक डोरी थी। भर कर पानी पिया—खाली पेट भरा।

चौकी पर लेट गया। खाली पेट नींद नहीं आती थी। बगिया में चल रहे नाच गानेकी आवाज यहाँ भी आ रही थी। पर यहाँ का वातावरण सन्नाटे वाला था। इससे वह शोर दूसरे ही किस्मका होकर यहाँ तक पहुँच रहा था। बुरा न लगा वह।

अँधेरेमें सभी पेड़ अस्पष्ट छायाकृतियाँ बना रहे थे। घने अँधेरे के भिठहुर जैसे खड़े कर दिए गए हों। अँधेरेमें बड़ी मोहने वाली शक्ति होती है। अपनेमें आत्मसात कर लेता है यह सबको। जैसे सब अँधेरा झिलमिलाते हुए तारोंसे गुँथा हो और सब जड़ चेतन पर एक मूर्च्छना सी डाल देता हो। ऐसेमें मन अपने आपको ही भूल जाता है। जाने किसके प्रति हम आत्मसमर्पण कर देते हैं भीतर ही भीतर। मन इतना निढाल हो जाता है कि यदि तन्द्रामें कोई बिस्तर सहित उड़ाने लगे—उड़न खटोलेके से जादूसे—तो कुछ भी न पता चलेगा।

सारा अँधेरा उस देवीकासा लगता है जिसका चेहरा लम्बा है। नाक पतली लम्बी। आँखें बड़ी-बड़ी। पलकें ढँपी हुई। एक तरल स्वच्छ पवित्र स्निग्धता उसके मुख पर बनी हुई है। अभी-अभी नहानेके बाद एकांत मंदिरमें उसने बेले और मोंगरेके फूलोंको देवता पर चढ़ाया है। गीले बाल पीठ पर छितरे हैं। जोगिया रंगकी धोती लपेटी है। पूरा मंदिर जैसे एक धूप-घूमकी शक्लका हो रहा है। कहीं शोर नहीं। कहीं क्रोध-चिढ़ नहीं। सबमें पवित्र वैराग्य।

ऐसा ही यह अँधेरा भी मनको बाँधता है। पड़े-पड़े नींद माताके हाथों उसकी छायामें आत्मार्पित हो गया।

रात दो-तीन बजे नींद खुल गई। शिवालेमें स्त्रियाँ गा रही थीं। एक दृष्टिमें देख लिया, दिएके प्रकाशमें सब खड़ी थीं। तुरंत आँखें मूँद लीं। कँपकँपीसी लग रही थी।

गीतकी धुन, बोलसे समझ लिया कि सुहाग माँगनेका गीत है। सीधे-सादे शब्दों और सीधे-सादे सुरमें यह क्या होता है जो मनको हिला देता है—

अब कहाँ चलिलिउ
अब कहाँ चलिलिउ
कौने राम धिरिया ?
चललिउँ मैं चललिउँ
महादेव के टोलवाँ।
देहु न गौरादेई
आपन सोहगवा !
सोहाग बाढ़ै मोर।
..... .....

धोबी, भाई, फुआ, भौजी, काकी, अइयासे लड़की सुहाग माँगती है। आग्रहसे माँगती है—सोहाग बाढ़ै मोर। और यह सभी सुनने वालोंके मन पर कैसी करुणा छोड़ जाता है। वह जो धुन विशेष होती है, यह उसीका जादू है या काहेका है!

सारा शरीर जैसे सिहर रहा हो। आँखें मूँदे पड़ा हूँ। वायलिन पर जैसे अत्यंत करुण संगीत बजता है तो हम अपने आपको अपनेसे अलग पाते हैं, वैसे ही। लगता है कि अब, बस अब सिसकने लगूँगा। रोनेके चार छः क्षण पूर्वही नाकके ऊपर जैसी चिहुँक सी लगती है, लगता है कि अब एक लम्बी साँस ली और वही सिसकी बन जायगी, ठीक वही स्थिति हो गई थी।

जब कोई बात अत्यंत तीव्रतासे लग जाती है और हम बिलकुल बेसहारे हो जाते हैं तब आवाजमें जो कम्पन आ जाता है वही

दशा। लगता है कि यदि अब कोई बाँहोंमें सँभाल लेगा तो तुरंत ही उसकी गोदमें मुँह छिपा रोने लगेंगे सिसकियाँ भरभर कर।

दस बारह मिनट बाद ही स्त्रियोंका गीत समाप्त हो गया। गद्यके कुछ वाक्य सुनाई पड़े। फिर गीत सुनाई पड़ा। आवाज तेज होती गई यानी निकट आती गई। पता चला कि इधर ही आ रही हैं सब। चुपचाप पड़ा रहा।

आवाजें बिलकुल पाससे होकर निकल गईं। लगा बिलकुल अपने पास ही कहकर गई हैं—सोहाग बाढ़ै मोर।

पता नहीं सोहाग देनेका अधिकार है या नहीं। पर जिन्हें होगा, वे उस करुणासे पसीज, अवश्य देंगे। देंगी, अवश्य देंगी माता गौरा पार्वती—

सोहाग बाढ़ै मोर।
देहु न गौरा देई
आपन सोहगवा...
देहु न गौरा देई...

बिलकुल तड़के ही आँख लग गई।

जब नींद खुली तो बहुत उजाला फैल गया था। सबसे पहले बैंडको आवाज कानमें पड़ी। पूरा बैंड नहीं बज रहा था। केवल एक या दो बाजे—बिगुल शायद।

हर बरातमें सुना है। सुबह-सुबहकी बाजेकी जिस आवाजके साथ नींद खुलती है वह जाने कैसी आकुलता भर देती है।

यही भैरवी होती है क्या! पता नहीं।

जो भी हो। यह प्राण-प्राणमें भर जाती है। हर स्पन्दनको हिला देती है, बिखरा देती है। विवाह वाली शहनाईमें भी वह टीस नहीं होती जो इस बैंड वाले बाजेमें होती है जो सुबह-सुबह बरातियोंको जगाती है।

अलसाया शरीर रहता है। बिस्तर पर पड़े-पड़े सब सुना करते हैं।

मैं उठा। झोला छाता लिया। गाँवकी ओर चला। खेतोंमें से निकला। सबसे किनारे वाले घरमें आमकी पत्तियोंकी बन्दनवारें लटक रही थीं। बाहर लोग सोये थे। इसी घरमें आज शादी रही होगी। कामकाजी लोग भीतर काम कर रहे होंगे।

गाँवमें से निकला। एक घरमें से गीतकी आवाज आ रही थी। एक किनारे छुप कर खड़ा हो लिखने लगा—

**मोरे पिछवरवाँ लवँगा क पेड़वा, लवँग चुवै अधिराति**
**लवँगा मैं चुनि चुनि डेरिया लगायों लादि चलै बनिजार—**
**लादि चलै बनिजरवा बेटउवा लादि चलै हरि मोर**
**तुँहिं बनिजरवा तुहिं सिर साहेब, हमहूँ चलब तोहरे साथ**
**तनियक डँड़िया नेवारो बनिजरवा हमहूँ चलब तोरे साथ**
**भुखियन मरबिउ पियसियन मरबिउ पान बिन जाबिउ कुम्हिलाय**
**कुस की सेथरिया प डासन सोइबिउ अंग छिली छिलि जाय**
**भुखिया मैं अड़बिउँ पियसिया मैं अड़बूँ, पनवा मैं देबिउँ बिसराय**
**तोहरे सँघरिया प्रभु जोगिन होबै, ना सँग माई ना बाप**

लिख कर आगे बढ़ा। जब गाँव पार हो गया तब ख्याल आया कि इधर मैं कहाँ आ गया। मुझे तो नदीके उस पारसे जाना था। और यह तो मैं नदीसे भी दूर दक्षिण पश्चिम बढ़ता

जा रहा हूँ। फिर तिरछे चला। मील भर जाकर नदीके पास पहुँचा। एक कुआँ चल रहा था। वहीं झोला छाता रख नित्य-कर्मोंसे निवृत्त हुआ। देंह पसीने पसीने हो रही थी। नहाया। दाँत लसार हो रहे थे। बालूसे खूब माँजा।

नहाते समय तय किया कि आज खूब तेज चलूँगा। कैसे भी हो, आज काफी दूरी कम करनी है। घर भी तो पहुँचना है। बिना मतलब के फालतू कामोंमें नहीं लगना है। कल सारा दिन अहिरके काममें लगा रहा—क्या मिला उससे?

जब चलना प्रारम्भ किया तो तेज ही चला। नदीमें एक-रसता थी। वही सूखी जमीन। पानी कहीं नहीं। कुछ नया नहीं। विशेष देखा भाला भी नहीं—अर्थात् ऐसा कुछ अद्वितीय मिला भी नहीं कि जो अपने आप तुरन्त बुला लेता कि अरे हमें तो देखा ही नहीं।

●●

# ९

# मदर इंडिया

चलते चलते दोपहर होनेको आई। भूखसे बेहाल हो गया था। प्यास तो जब जब लगी कहीं न कहींसे भर कर पानी पी लिया था और शीघ्र भागा था कि कहीं किसी चक्करमें न फँस जाऊँ।

खाना न खानेके कारण मुँह लसार हो रहा था और सारी देह थकी हुई लग रही थी। पता नहीं कैसे लोग बीस बीस दिनोंकी भूख हड़ताल कर जाते हैं। यहाँ दो ही जूनमें दृष्टिके सम्मुख अँधेरा सा लगता है।

समझ नहीं आता था कि क्या खानेको मिलेगा। झोलेका सत्तू समाप्त हो गया था और कहीं कोई बाजार मिली नहीं। गाँवोंमें जाकर खाना माँगनेकी हिम्मत नहीं है। फिर भी गाँव वालोंपर ताव आ रहा था कि ये सब क्यों नहीं कुछ खिलाते। यद्यपि सचाई यह भी है कि मैं किसीसे मिला ही नहीं।

आखिर जब भूखसे नहीं रहा गया तो सोचा कि किसीके द्वारपर चलकर इशारेसे, भले आदमियोंके लहजेमें कहा जाय तो कुछ न कुछ खानेको पूछेगा ही। यह सोच आगे ही पड़ने वाले एक गाँवमें घूम गया।

पक्की छत वाली एक बखरीके सामने नीमकी छाँहमें एक भले आदमी लेटे थे। कई चारपाइयाँ पड़ी थीं। जाकर एकपर झोला छाता रख दिया। लोटा निकाला। पसीनेसे तर हो रहा था। धूपकी गरमीके कारण देह चुनचुना रही थी। पानी भर कर, उनकी डोरीके लिए धन्यवाद देनेके वास्ते अपने आप कहा, "बड़ी गर्मी है! ऐसी चटख धूप, राम!"

लेटे हुए महोदय बोले, "न पूछो भाई, गर्मीके कारण तो आफत ही है। पानी बरसे तो मनको शान्ति हो।"

पानी पीकर चारपाईपर आ बैठा। बड़ी तेजीसे पसीना छूटा। कमीजके सामनेके पल्लेको उलट कर हवा करता रहा। बोला, "जाने कब बारिश होगी!"

सोचा कि यह आदमी क्यों नहीं कुछ पूछ रहा है। वह बोला, "अब ज्यादा दिन नहीं। बस आजकल लगा हुआ है। पानी गिरे तो पेड़ोंमें रस आये। आम लुहाय गये हैं। एक लेवा गिरते ही तो आम भदराय उठेगा। पमु पानी गोरू चाकर सभीको आराम होगा।"

फालतू बातें ही चल रही थीं। इससे मैं बोला, "यहाँ कोई भूँजकी दुकान नहीं है? कुछ भूजा भर्री या सत्तू ले लेता।"

उसने सामनेके गाँवको दिखाते हुये कहा, "बस इसीके आगे बाजार है। वहाँ सब कुछ बिकता है।"

गाँव सामने ही था। पर धूप और भूख के कारण बड़ा बुरा मालूम हुआ। मनमें हुआ कि यह आदमी निहायत बुरा है जो इसने मुझे कुछ खाने पीनेको नहीं पूछा। वहाँसे उठकर चला। उसने छँहाने तकके लिए न कहा।

कड़ी धूपमें पसीनेसे तरबतर होता हुआ चला। छातेके नीचे भी धूप पता चलती थी। हवा पछुवा चल रही थी, खूब गर्म तपती हुई।

रास्तेमें एक बगिया पड़ी। दो चार लड़के डटे थे। ज्यों ही मैं एक पेड़के नीचे खड़ा हुआ कि टपसे एक आम गिरा। आवाज से लड़के दौड़े, पर तब तक मैंने आम उठा लिया। आमकी भी लालच थी और भूखकी बात भी थी। तभी एक लड़का चिल्लाया, "हे! बस खबरदार, रख दो आम।"

मैं बेसरम हुआ आम लिए खड़ा रहा। तब वह मेरी ओर चला। चिल्लाता आया, "कहता हूँ, छोड़ दो। यह ठीक न होगा। रात दिन हम लोग रखाते हैं कि मजाक करते हैं! रख दो आम।"

गुस्सेमें आ मैंने आम जोरसे फेंक दिया जो फूट भी गया। लड़का बोला, "बड़े तावबाज मालूम देते हो?"

"आओ दिखाऊँ और ताव भी।"

"जाओ रास्ता नापो।" कह लड़का पीछे चला गया। मैं भी यात्री-धर्म पर लौट आया—परदेशमें क्रोध ठीक नहीं।

नदीका मार्ग छोड़ ही दिया था। इधर और भी कटनी काट कर बाजारकी ओर चला।

दोपहरीके सन्नाटेमें सारी बाजार सुनसान थी। सब बनिये फटका लगाए सो रहे थे। भूँजकी दूकान पर कोई था ही नहीं। इधर-उधर दरियाफ्त करनेके बाद भी न पता चलने पर हलवाईकी दूकान पर गया। खाद्यान्नके नाम पर काली-काली जलेबी और चीनीके पेड़े थे। पूछा, "पूरी बना दोगे ?"

"क्यों नहीं बना दूँगा ! अभी लीजिए।"

वह तुरन्त ही आलू काटने लगा।

मुझे प्यास लगी थी। उसके नल पर पम्प चला-चला कर लोटा भरा और हौंक-हौंक कर पी गया। पसीना छूटने लगा तो दूकान में पड़ी चारपाई पर लेट गया। थकान बहुत थी पर नींद नहीं आती थी। गर्मी भी बहुत थी। मक्खियोंकी तो वह जैसे धर्मशाला ही थी। मुझसे बड़ा प्रेम दिखा रही थीं। उनके प्रेमके प्रति निर्विकार होकर पड़े रहनेकी चेष्टा की पर प्रेममें बड़ी शक्ति होती है। वे आलिंगन करने पर कटिबद्ध थीं और मैं वज्राघात करनेमें।

बीच-बीचमें आँख खोल कर अपने अन्नदाताको देख लेता था।

राम राम करके पूरियाँ बनीं। उसने पत्तलमें पूरी तरकारी परसी और मैं हाथ धोने गया। मक्खियाँ तो हाथ मुँह धोनेकी पोंगापंथीमें विश्वास करती नहीं। न ही उन्हें यह दकियानूसी बात अच्छी लगती है कि पंगतमें किसीकी प्रतीक्षाकी जाय। हाथ धो कर आया तो गेंहुए रंगकी पूरियों पर शोभा पाती हुई मक्खियाँ इतनी

अच्छी लगी कि जैसे किसी सुन्दरीने गुदगुदे हाथों पर गोदना गुदवा रखा हो।

डार्विनका सिद्धांत 'सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट' आज पूरी तरहसे समझमें आया। अपनी-अपनी बुभुक्षासे प्रेरित होकर हममें और मक्खियोंमें जो युद्ध हुआ उसका वर्णन कर पाना इन्द्रियोंसे परे है।

निराश व्यक्ति अंतमें परमेश्वरकी शरण जाते हैं। मैंने हाथ जोड़ प्रार्थना की—

**हे प्रभो आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए**
**शीघ्र सारी मक्खियोंको दूर हमसे कीजिए**

ईश्वरके न्यायालयमें अंधेर है या नहीं, यह नहीं मालूम पर देर अवश्य है। और मेरी भूखी जीभ को धैर्य रखना आता नहीं। शीघ्र ही खा गया। खाने में आज अपूर्व आनंद मिला।

खाकर दस मिनट आराम किया। फिर पैसे देने के लिए हलवाईको दसका नोट दिया तो उसने लौटा दिया कि पैसे नहीं हैं, तुड़ा लाइए। विवश झोला छाता जमानत के तौर पर रख बाजार में नोट तुड़ाने गया। यों किसी ने नहीं तोड़ा तो लेमनचूस की चार आनेकी मीठी गोलियाँ लेकर झोलेमें डाल लीं। आकर हलवाई को पैसे दिए और चला।

बीस पचीस कदम चलते ही मुँह में उबकाई सी आने लगी। थोड़ा ही आगे बढ़ा होऊँगा कि सिर घूमने लगा। सिर पकड़ कर बैठ गया। आज तक कभी बेहोश नहीं हुआ। आज जाना की बदहोशी की प्रारम्भिक अवस्था कैसी होती है। बहुत डर लगा

कि क्या चक्कर खा कर गिर पड़ूँगा ? दो ही मिनट में पसीना छूटने लगा। चेहरे पर और माथे पर पसीना ही पसीना। तब चक्कर बंद हुआ। उठ कर खड़ा हुआ। उबकाई अब भी आ रही थी।

थोड़ा ही आगे बढ़ने पर पेट गड़गड़ बोलने लगा। एक नीम के नीचे छाँह में हैंडपम्प लगा था, सीमेंटकी चौकी थी। वहीं गया और पानी से मुँह और सिर धोया। पर इससे कोई अंतर न पड़ा। उबकाई बढ़ती ही गई। पेट भी जोर से बोले।

और अंतमें दशा यह हो गई कि कै होनेको हो गई। ओक् ओक् ओक् गले में हो। कई बार होने पर उलटी कर दी। और एक बार पेटके बाहर आ जाने पर पीछेसे कई बार एक मिनट के अन्दर ही उलटी हुई। सारी चौकी गंदी हो गई। आँख और नाकसे कष्टके मारे पानी गिरने लगा। बड़ी मुश्किलसे नल चला कर दो कुल्ले किए कि मुँह साफ हो जाय। बड़ी कमजोरी लग रही थी, मुँहका स्वाद जाने कैसा लग रहा था। सिरको हाथोंसे थाम बैठा था कि अभी कुछ सुस्थ होने पर उठूँगा और चौकी को पानी से साफ कर दूँगा।

तभी पेट गड़गड़ बोलने लगा शूल के साथ। और उसी में कुछ पता ही न चला कि कब मेरी धोती खराब हो गई। जब पता चला तो अपने ऊपर बड़ी घिन लगी किंतु बड़ा असहाय सा महसूस कर रहा था। और जब असहायावस्था में अपने ऊपर घिन लगती है तो लज्जा नहीं महसूस होती।

मेरे मुँह और धोतीपर मक्खियाँ भिनक रही थीं। उस समय मैं पूर्णरूपेण असहाय हो गया था। किसीकी भी सहायताका मैं हार्दिक स्वागत करता।

उसी समय पता चला कि बीमार मित्रको सहारा देते समय जो यह सोचा करता हूँ कि यह सोच रहा होगा कि मैं शिष्टतावश फ़ार्मैलिटीमें सहारा दे रहा हूँ; यह कितना गलत है। बीमार आदमी स्थिर बुद्धिसे कुछ सोचते नहीं। उन्हें तो सहारा मिल जाय, यही उस समय सबसे बड़ी आवश्यकता पूर्त्ति है।

निस्सहायताको व्यक्त करनेकी जो एक शैली विशेष चित्र-कला माध्यम में होती है कि निराश व्यक्ति को उठँङा हुआ या अधलेटा दिखाते हैं, वह मात्र प्रतीक नहीं होती है। वास्तव में वैसी अवस्था में किसी का भी—जड़ का ही—सहारा ले लेना सुखकारी होता है। चौकी का सहारा लिए चार छः मिनट पड़ा रहा। पेट का गड़गड़ बोलना नहीं रुका।

फिर उठा और नल चलाने लगा कि चौकी साफ हो जाय तो नहाऊँ। बड़ा कष्ट महसूस हुआ। धीरे-धीरे चला ही रहा था कि एक बनिनि आई। जैसी होती हैं, वैसी ही, अर्थात् पीला चेहरा दुबला शरीर। गलेमें सोनेकी हँसुली, कमरमें करधनी, पैरमें कड़े छड़े, हाथोंमें टँड़िया।

घृणा भरे भावसे एक किनारे खड़ी हो गई, लोटा लेकर। भुनभुनाने लगी, "कितनी तो गंदगी फैलाय दी है! कचर-कचर भर लेते हैं पेटमें और फिर दूसरोंके यहाँ छाँट करते हैं। मारके गन्हाय रहा है।···जल्दी भागौ भइया!"

मैंने विवशतासे उसकी ओर देखा और नल चलाता रहा। बहुत कुछ साफ हो गई चौकी।

तभी एक स्त्री और आई बालटी लिए। तेलिन रही होगी। मेरे ऊपर भिनकती मक्खियोंको देख बोली, "ऊँहूँ! बापरे! कहीं और जगह नहीं मिली थी? यहीं पानी पीनेकी जगह पर ही पड़ना था आकर?"

बनिनि बोली, "चलो छोड़ो जल्दी नल। हमें पानी लेना है।"

"नहा लूँ, माता! शरीर घिनाहिन हो रहा है।"

"अब नहाओगे, राम! मैं तो अच्छी गई! अच्छे आये तुम! अभी तक साफ कर रहे थे एक घंटे तक अब दो घंटे नहाओगे?"

तेलिन बोली, "नहा लेने दो बहिन। साफ होकर हमारा नल भी माँज धोकर जायँ तो पानी लें हम लोग।"

बनिनि भुनभुनाती रही और मैंने नहाया धोया। दूसरी धोती पहिनी। नल माँजा धोया।

पेट गड़गड़ाने लगा तो लोटेमें पानी भर लिया और वहाँ से चला। जल्दीसे बाजार पार की। चारों ओर कड़ी धूप थी। एक खेतमें चार छः मिनट बैठते ही पसीने-पसीने हो गया।

उठ कर फिर कुल्ला करने नल पर लौट कर आया। पर जैसे ही चलनेको हुआ कि फिर आवश्यकता महसूस हुई। लोटा भरा और चला। खेतमें ही कै हुई। उठनेकी हिम्मत न रह गई। पर बिना उठे चारा न था। लौट कर नल पर आया और कुल्ला किया। पाँच दस मिनट बैठकर सुस्ताया और फिर चला। गाँव पार करते

न करते फिर एक कै हुई। जी जाने कैसा हो आया। हिम्मत हार गया। किनारेके एक पेड़ तक अठोहता अठोहता आया और धम्मसे जमीन पर ही बैठ गया। कुल्ला करनेके लिए जानेका दम नहीं रह गया। गला सूख गया था और बड़ी कमजोरी लग रही थी।

तबियत उखड़ने लगी तो वहीं लेट गया। निराशाकी चरम परिणतिपर आ सोचने लगा कि आज इस परदेसमें हैजेसे ही मरना होगा क्या? मरनेकी बात सोचकर इतना डर लगा, इतना डर लगा कि क्या लगेगा।

एक आदमी पेड़के नीचे खटियापर लेटा था। उठकर पास आया। बैठ गया। बोला, "क्या तबियत खराब हो गई है?"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ। वह बोला, "तो आप बार-बार धूपमें पानी लेने क्यों दौड़ रहे हैं? जरा सा आगे बढ़ जाइए तो नदी मिलेगी। किनारे ही बगियाकी छाँह है। नदीमें मतलब भरका बहुत पानी है। इस धूपकी भाग दौड़से छुट्टी पा जाइएगा।"

नलसे कुछ चिढ़ भी थी, धूप भी काटती सी थी; इससे हिम्मत करके उठा और चला। दो तीन फर्लांग पर ही बगिया थी, पर उतनेमें ही चक्कर आने लगा। किसी तरहसे खींच खाँचकर बगिया तक पहुँचा और तुरन्त ही अचेत सा होकर जमीन पर ही लोट गया। पड़ा रहा वैसे ही आँखें मूँदे।

माथे पर किसीके हाथका स्पर्श पाकर आँखें खोलीं। कोई था। बोला, "का तबियत खराब है?"

मैंने आँखें मूँद लीं। उसने माथे पर कई बार हाथ फेरा। फिर हाथकी कलाई सहलाता रहा।

मैं वैसे ही पड़ा रहता, पर उठना आवश्यक जान पड़ा। उठकर थोड़ी दूर पर छाँहमें ही चला गया। नदी निकट थी।

लौटकर आया तो वह आदमी बैठा था। वह सब कुछ समझ गया था जैसे। बोला, "ज्यादा तकलीफ है ?"

"पेट छेदे दे रहा है।"

"दवा ली थी ?"

"यहाँ गँवई गाँवमें दवा दारू कैसी ? कहाँ मिले ?"

"अरे ! बड़का बाबूके यहाँ नहीं गये ? उनके यहाँ हर चीजकी दवा है।"

"हमें हैजा हो गया है। उनके पास कुछ है ?"

"बिलकुल छू मंतर। तुरंत अच्छा हो जाय आदमी।"

इच्छा हुई कि पैर पकड़ लूँ उस आदमी के। उसी लहजे में कहा मैंने, "ले चलो भइया, मुझे वहाँ जल्दी से। बड़े कष्ट में हूँ।"

उसने मुझे बाँहके नीचे सहारा दिया। मदद करता हुआ ले चला मुझे गाँवकी ओर। मैंने भी पूरी उम्मीदसे उसीके हाथों अपने आपको सौंप दिया। आगे बढ़ने की चेष्टा की।

●●

१०

# सात भाई चम्पा

बेंच पर लेट गया। सामने ही लकड़ी की अलमारी थी—शीशे के खानोंमें से भीतरकी शीशियाँ झलक रही थीं।

मुझे वहीं छोड़कर वह सज्जन चला गया और लौटा तो कमरे में इस संवादके साथ प्रवेश किया :

"कहीं जा रहे थे ? राही हैं ?"

"हाँ, सरकार।"

सिर घुमा कर संवाददाताको देखनेकी चेष्टा की। आँखों पर चश्मा, सफेद धोती कमीज। मैंने हाथ जोड़े—नमस्ते।

उन्होंने मुस्करा कर कहा, "नमस्कार। कहिए, क्या हो गया ?"

जितनी भयंकरतासे सोच गया था, उतनीसे कह न पाया कि हैजा हो गया है। यही कह पाया, "डीसेण्ट्री। कै भी हुई है।"

"डीसेण्ट्री" शब्द जान बूझ कर प्रयोग किया था। कुछ तो अपने पढ़े लिखे होनेका परिचय देनेके लिए, कुछ यह संशय मिटानेके लिए कि 'नीम हकीम खतरे जान'। कहावत सच न हो जाये। वे पढ़े लिखे थे—बोले, "अपने पास कुछ पेटेण्ट मेडिसिंस पड़ी हैं। देखिए, उन्हींको देता हूँ। डाइग्नोसिस तो साधारण ढंग की होती है। मेडिसिन साइंसमें अपनी दखल तो यूँ ही है।"

चुप पड़ा रहा। बीमारीके विषयमें उन्होंने दो चार प्रश्न किये। फिर शीशेकी गिलसियामें पानीके साथ कुछ दिया। कपूरका सा स्वाद।

मैं उठकर बैठ गया था। उन्होंने पासकी चारपाईको इंगित कर कहा, "आप सुविधासे लेट जाइए। आराम मिलेगा।"

स्वयं कुर्सी पर बैठ गये। मैं निस्संकोच चारपाई पर जा लेटा। वह सज्जन पंखेकी डोरी खींचता रहा, दरवाजेके पास बैठ कर। मुझे हल्की हल्की नींद आने लगी। बड़का बाबूने मुझसे मेरे बारेमें कई प्रश्न किये। जब उन्हें मेरी तहसीलके बारेमें मालूम हुआ तो बोले, "वहीं तो मेरी ससुराल है।"

"किस गाँवमें।"

"आदी टोलामें। आप जानते हैं?"

"मेरे गाँवके पास ही है वह तो।" फिर मैंने गाँव और पिताजीका नाम बताया तो परिचयकी हँसी हँस, बोले, "उन्हें कौन नहीं जानता है! मुझसे अच्छी मुलाकात है। मेरी पत्नी भी अच्छी तरह जानती है।.....आपको अभी मिलाता हूँ उससे। वह रघुवर पाँड़ेकी लड़की है।..."

"कौन, जयंती ?" मुझे परिचित चेहरा याद आया।

"आप जयंतीको जानते हैं ! मेरे यहाँ उसकी बड़ी बहिन रूपा है।"

"मैं नहीं जानता।"

दवासे लाभ हुआ। पेटका गड़गड़ाना बंद हो गया। यों मुझे एक बार फिर खेतमें जाना पड़ा। जो भला आदमी मुझे ले आया था, उसीने पानी दिया, कुल्ला कराया। बड़का बाबू बोले, "तो फिर आप रुकिए। घरके ही आदमी हुए। समझिए अपनी बहिनके घर हैं। अभी मैं उनको बुलवाए देता हूँ।...मुझे आवश्यक कार्य से जाना है। अभी गाड़ी पकड़नी है। आप बुरा न मानिएगा।"

दवा की एक खुराक और दी गई। बड़का बाबू चले गये। लौटे तो रूपा जी के साथ। मैंने हाथ जोड़े "प्रणाम जीजी।"

उन्होंने हाथ जोड़े, "नमस्कार।"

बड़का बाबू बोले, खड़ी बोलीमें ही, "अच्छा तो, दूबे जी, मुझे आज्ञा दीजिए। गाड़ी पकड़नी है। ये आपकी डाक्टरी करेंगी।.....देखना भाई सँभालना रोगीको।" मुस्करा कर पत्नीसे कुछ मजाकके लहजेमें बोले वे।

जीजी इसे मायके और भाईके पद पर लेगईं। मुस्कराकर बोलीं, "मुझे कहाँ फुर्सत है। आपकी बहिनको कर दूँगी इस काम पे।"

मुस्करा कर, कटकर चले गये बड़का बाबू।

जीजी कुरसी पर बैठ गईं। बोलीं, "यहीं मेज पर रखी दवा दी है न, आपको ?"

मैंने सिर हिलाया—हाँ। उन्होंने घर परिवार की बातें पूछनी शुरू कीं। बातें खड़ी बोलीमें ही चल रही थीं। दबासे पर्याप्त आराम था, इससे मुझे कुछ दिक्कत न हुई उनकी बातोंका जवाब देनेमें। कण्ठ सूख रहा था, इससे मैंने कुछ उकुस पुकुस की—गिलसियाको घूरा। वे कुछ समझीं। बोलीं, "क्या बात है ? पानी ?"

"नहीं। ऐसे ही। जरा रुक कर पीऊँगा।"

"नहीं, ऐसी भी क्या बात है।" उठीं। अलमारीसे एक बोतल निकाल लाईं। गुलाबी रंगका पेय गिलसियामें उँड़ेला। वह आदमी अभी तक पंखा खींच रहा था। बोलीं जीजी, "तुम भइया, अभी तक बैठे ही हो ! बड़ा नुकसान हुआ होगा ! अच्छा जरा भीतरसे सुराही उठा लाओ तो। वह गया। जीजी बोलीं, "बड़ा सीधा आदमी है। जमींदारी चली गई। लोगोंका आना जाना बंद हो गया। सब रिआयामें विद्रोह फैल गया है। पर यह बुड्ढा अब भी आ जाता है और अपने आप बेगार किया करता है, पहले जैसे।"

सुराही आजाने पर बोतलीय शर्बत बनाया—अलमारीमें से गिलास निकाल कर। मैंने कहा, "जीजी, पानीसे चल जाता। इसकी क्या जरूरत थी !"

"फार्मैलिटी कर रही हूँ।" कह मुस्कराईं।

मैंने शर्बत पीते हुए कहा, "मैं भी फार्मैलिटी पूरी कर दूँ।" दोनों ही जने हँस दिये।

जीजी बोलीं, "चलिए आपका प्रबन्ध बैठकेके बगलमें कर

दूँ—गेस्ट रूमके ध्वंसावशेषमें। यहाँ दवाखानेमें कहाँ पड़े रहिएगा!"

थोड़ी देर बाद कमरा ट्रांस्फर हो गया। जीजी भीतर चली गईं, मुझे सोनेके लिए कहकर। थका था ही, सो गया शीघ्र ही।

"बाबू उठें, अँधेरा भया।"

आँख खोली तो देखा एक लड़का—नौकर—जगा रहा था। उठ बैठा। माथा भारी हो रहा था। धोती-बनियाइन पसीनेसे भीग गई थी—बिलकुल तर। बोला वह, "चलें बाबू, बाहर खुलेमें बैठें। हवा लगेगी।"

बाहर आया। कुर्सी रखी थी। मेज भी। नीचे एक बालटी पानी और लोटा। लड़का चारपाई और बिस्तर ले आया। कुर्सीपर अलसाया बैठ गया। पैरोंमें टूटन हो रही थी। जैसे बुखार उतरने पर देहमें होती है।

बाहर काफी खुला था। कुछ आगे एक बड़ा पेड़ था—मौलसिरीका। बगलमें कुआँ था। काफी जगह है—चहारदीवारीसे घिरी। दीवाल अब उखड़ने लगी है। पहले यह प्राङ्गण रहा होगा।

मेरे बायें हाथ पर ओसारा था—घरमें जानेका रास्ता भी उधरसे ही। कुएँ पर लगे रहटको देखकर इन लोगोंके वैभवके विषयमें सोच रहा था कि ओसारेमेंसे आवाज आई, "अभी तक मुँह हाथ भी नहीं धोया!"

देखा, हाथमें स्टेनलेस स्टीलकी छोटी सी बालटी थी, एक गिलास भी। आवाज दी उन्होंने, "लोहू, यह ले जा आकर।"

लड़का "आइत है, दुलहिन" कहकर गया। ले आया दोनों चीजें। जीजी चली गईं। मैं मुँह धोने लगा।

जीजी लौट आईं। वहींसे बोलीं, "यह दवा दे आ, रे!"

लोहू गिलसिया ले आया। मैं चुपचाप पी गया। पूछा जीजीने, "अब कैसी तबियत है?"

"बिलकुल चंगा हूँ।"

"पर खाना नहीं मिलेगा।"

"बस यह पानी ही पीकर जिन्दा रहना होगा?"

"नहीं, इसमें पुदीना और शक्कर भी है। पुदीना बनस्पति है। और बनस्पतिसे घी बनता है। इस तरह खानेकी मुख्य वस्तुएँ तो प्राप्त हो ही गईं—फैट और कार्बोहाइड्रेट्स।"

व्यंग्य और किसी तीसरेकी निन्दा, दो व्यक्तियोंको निकट ला देती है। शिष्टाचारकी सीमाएँ आदमीको खुलने नहीं देतीं, पर जीजी खुले दिलकी लगीं। उसी नैकट्यके आधार पर मुँहसे निकला, "जीजी, आप कहाँ तक पढ़ी हैं?—सर्वथा असम्बद्ध प्रश्न पूछ रहा हूँ।"

"अकस्मात् नामकी कोई क्रिया नहीं होती। कुछ भी संसार में असम्बद्ध नहीं है।" फिर जैसे हल्की हो लीं। मुस्करा कर कहा, "मैं पढ़ी लिखी तो नहीं हूँ। बिलकुल जानती ही नहीं।"

"खैर, न बताइए।"

"यह शर्बत पी जाइए।"

एक साँसमें दोनों गिलास खाली हो गये।

"पढ़नेके लिए कुछ भिजवा दूँ?" पूछा जीजीने।

"वेदांत दर्शन।"

'फिल्मफेअर' लेकर लौटीं। लोहूके हाथ मुझ तक आया। बोलीं, "बुरा न मानिएगा। दुलहिन हूँ। इस लक्ष्मण रेखाके बाहर नहीं निकल सकती।"

मैंने 'फिल्मफेअरको' घूरा तो वे बोलीं, "आप चल कर छाँट लीजिए।"

चला गया। रास्तेमें बोलीं, "आपको फिल्म लिटरेचरसे कोई इंटरेस्ट नहीं है?"

"जब बी. ए. में था तो एक लड़केके कमरेमें प्रतिदिन जाता था होस्टेल। उसने कमरेमें किसी फिल्मी ऐक्ट्रेसकी फोटो मढ़वाकर टाँग रखी थी। वही देखने जाता था।"

मुस्कराईं। बोलीं, "मैं तो पढ़ती हूँ।"

भीतर कमरेमें ले गईं। आश्चर्य हुआ देखकर कि कितनी किताबें थीं। दीवारोंपर हाथके बनाए अच्छे-अच्छे चित्र, आयल पेंटिंग भी, वाशकलर भी टँगे थे। शीशेके पटवाली अलमारियोंमें किताबें रखी थीं। अलमारियोंके ऊपर शंख, कौड़ी, मूँगे आदि लोक संग्रह की परिचायक चीजें थीं। कमरेमें ऊपर डोरी वाला पंखा लगा था। नीचे कालीन बिछे थे। एक चौकी पर फाउण्टेनपेन और उसकी दावात रखी थी। लैंप भी धीमा धीमा जलता हुआ रखा था। यों किताबें देखने भरको पर्याप्त रोशनी थी। जीजीने कहा, "देखिए, आपको बता दूँ कि किस विषय की किताबें किस ओर हैं। इधर..."

किताबें उलटीं पुलटीं मैंने। आश्चर्य हुआ कि इतने करीने

से किताबें पढ़ीं गई हैं कि साफ सुथरी हैं और सब पर पेंसिलमें बारीक टिप्पणियाँ भी लगी हैं। संग्रह इतना अच्छा है कि उससे संग्राहककी विश्लेषण प्रतिभाको मान जाना पड़ा। जो भी किताबें थीं सब कालजयी (क्लासिक)।

एक ओर पत्रिकाओंकी फाइल थी। 'सरिता'के कुछ अंक देखने लगा। दो तीनमें मेरी कहानियाँ थीं। अपनी इच्छा मैं दबा न पाया। पूछा, "आप 'सरिता' पढ़ती हैं ?"

"हाँ लगभग पढ़ी लेती हूँ।"

मैंने अपनी कहानी उनके सामने रख कहा, "यह पढ़ी है ?"

उन्होंने सिर हिलाया—हाँ। मैं झेंपकी हँसी-हँसते हुए बोला, "यह मैंने ही लिखी है।"

वे एकदमसे सजग हो गईं। बोलीं, "अरे ! मैं तो प्रभाकर द्विवेदीकी कई चीजें पढ़ चुकी हूँ।···आप ही हैं ?"

"जी हाँ।"

"चलिए, यह अच्छी मुलाकात हुई। अब आपको कई दिन न जाने दूँगी। साहित्यिक चर्चा ही चलेगी।···"

मैं चुप रहा। दो एक किताबें निकाल लीं मैंने और लेकर बाहर आ गया। जब तक रोशनी रही बाहर, पढ़ता रहा। फिर शौच चला गया।

लौटा तो दोपहर वाला वृद्ध बैठा मिला। पूछा उसने, "बाबू अब कैसी तबियत है ?"

"अब तो बिलकुल ठीक हूँ।"

एक बात बहुत देरसे मनमें घूम रही थी, उसे साफ कर लेना

मैंने उचित समझा। जरा रुक पूछा, "बाबा, यह जो दवाखाना। तुम्हारे बड़का बाबूने खोल रखा है, इसमें पैसा लेते होंगे ?"

हाथ जोड़ वृद्ध बोला, "भइयाकी बात ! सरकार, ऐसा नहीं है। आज दस सालसे देख रहा हूँ। लोग आते हैं और बाबूसे दवा ले जाते हैं। पर जो एक पैसा किसीसे लिया हो।"

सफेद धोती कुर्ता, आँखों पर चश्मा वाले बड़का बाबूका चित्र याद आ गया।

"और अब क्या है, मालिक ! इस राजमें बड़े-बड़े सुख मिले हैं हम परजा पउनीको। हारी बीमारी, काम काज पर अब भी लोग मालिकके ही पास दौड़े आते हैं। मालिककी मदद न हो तो जाने कितने बेसहारे हो जायँ। थोड़ी ही दूर पर ठाकुर हैं। उनकी जिमींदारीमें ऐसा था कि सौ पचास आदमियोंको पकड़ बुलाते थे वे बेगारीमें जब भी काम पड़े। इन मालिकके यहाँ जितना ही सुख है, ठकुरैतीमें उतना ही दुख था।"

"खेती ही होती होगी, इनके यहाँ ?"

"हाँ। अब तो टकटर (ट्रैक्टर) से होती है। पहिले तो रिआया से मालगुजारी ही बहुत निकल आती थी। लेकिन सब पैसा घूम कर हमीं लोगोंमें आ रहता था। अब तो हर चीज़ पर सरकारी कब्ज़ा है। बन, जंगल, पेड़, पालव, खेत, जमीन सब सरकारी। मुर्दा फूँकनेके लिए भी लकड़ीकी जरूरत हो तो सरकारी हुकुम लो। पहिले मालिकका राज था—सब कामोंमें अपने आप दौड़ते थे।... क्या जमाना रहा वह भी ! यह बखरी थी कि महल ! यहाँ कितने तो माली लगे रहे। फूल बगीचा का रंग था सब ओर। चमचम

चमकती थीं ये दीवारें। यहाँ बड़ी चक्की लगी थी—दो बैल मिल कर खींचते थे। अब तो बजारकी मसीनसे पिस कर आता है। उधर चरही थी जानवरोंकी। छब्बीस भैंस और चालीस गाय थीं। छियासी बैल। जिस बखत सबको देखे तो देखने वालेकी छाती फूल जाय। इधर उधरके लोग देखने आते थे। सालमें कई कई मेले होते थे यहीं फाटक पर। जिसका गोरू सबसे सरिष्ठ (श्रेष्ठ) निकले उसे बड़े सरकार अपने हाथों इनाम देते थे। इनके यहाँ कारिंदे थे, मुंसी थे, सिरवार थे। जिस बखत सब वर्दी पहिन कर मूँछ फुलाते हुए निकलते थे, कंधे पर तेल पिलाई लाठी चमके, क्या कहना! अब क्या है! कुछ नहीं बाबू। कुछ ना रहा।...सब सन्नाटा लगता है। सूनी पड़ गई है बखरी। बड़का बाबू भर रहते हैं। और सब मालिक शहर चले गये। कोई दुकान खोले हैं कोई नौकरी करते हैं। शहर जाते हैं तो वे लोग उस खुले दिलसे मिल ही नहीं पाते हैं अब। यहाँ तो ऐसे प्रेमसे मिलते थे!...कुछ ना रहा सरकार! अब कुछ ना रहा!..."

वृद्ध चुप हो गया तो मैं लेट कर पढ़ने लगा। मेज पर लैम्प रखा था। किताब खोली थी, पर मन न लगा पाया। कभी वृद्धकी कही बात याद आती थी, कभी उस बखरीकी दीवारें।

गर्मी बहुत थी। पढ़ ना पाया तो लेट गया। हवा रुकी थी। बदन चिपचिपा हो चला पसीनेसे। पड़ा रहा वैसे ही काफी समय तक।

लोहू आया। बोला, "बाबू, चलें भीतर। कुछ खालें।"

"नहीं भाई, जीजीसे कह दो कि कुछ नहीं खायँगे।"

वह चला गया। फिर आया कि—"जीजी कहती हैं कि मुँह जूठाकर चले जायँगे। हल्की खिचड़ी है!"

हाथ पैर धोया। बनियाइन उतारी। धोतीका उत्तरीय छाती और पीठ पर लपेट लिया। भीतर चला। आगे आगे लोहू।

आँगनके बाद ओसारा है—उसीमें रसोई बनती है। आँगनमें ही भोजन करनेकी व्यवस्था थी। कमरी बिछी थी सफेद। बैठ गया। छोटी कोठरी थी बगलमें ही। उसमें से घंटीकी आवाज आ रही थी। एक लैम्प बरामदेमें जल रहा था, एक कोठरीमें। कोठरी में जीजी दिख रही थीं। खड़ी होकर, हाथमें थाल लिए भोग लगा रही थीं। थालमें बड़ा सा दिया जल रहा था। उसके प्रकाश में चेहरा प्रकाशित हो रहा था। आँखें बन्द थीं। बाएँ हाथसे घंटी बजा रही थीं, दाहिनेमें थाल था।

मंत्र मुग्ध सा देखता रह गया। एक अपूर्व छबि थी वह।

तनिक देरमें देवी अन्नपूर्णा आईं। थाली उठा लाईं। सामने रख बोलीं, "अकेले ही जीमना पड़ेगा। कोई है नहीं घरमें। बच्चे ननिहाल गये हैं। देवर शहरमें रह रहे हैं।...जीमिए।"

"तो आजकल अकेली ही हैं जीजी, इतने बड़े घरमें?"

"नहीं। ननद भी हैं। लजाती हैं इससे आड़में छिपी हैं। और तो यों कोई नहीं है। सब शहरमें रहने लगे हैं।"

मूँगकी खिचड़ी थी। कुछ अचार सिरका भी। जीजीकी राय थी कि वह सब कुछ पेटके लिए गुणकारी है।

लैम्पकी रोशनीमें बहुत साफ नहीं दिखता फिर भी यह तो पता ही चल गया कि जितना बड़ा आँगन है, उस अनुपातमें घर

बहुत ही बड़ा है। पर सब सूना है। दीवारोंके पलस्तर गिरते जा रहे हैं। नीचे फर्श भी टूट रही है। पुराने ढंग का मकान है।

भूख लगी ही थी। सब खिचड़ी खा गया। और लेनेकी इच्छा हुई। जीजीने खाली थाली देखी तो बोलीं, "और लीजिए।"

"ना जीजी, बस। पेट भर गया।"

"अरे लीजिए भी।" कह वे खिचड़ी डाल गईं। घी खानेका स्वाद बढ़ाता है और मेरा मन दूधसे बनी हर चीजके सामने दुर्बल हो जाता है। मतलब तीन बातें हुईं। खिचड़ी स्वादिष्ट थी, कई दिनोंसे खाना ठीकसे नहीं मिला था और घी बनस्पति नहीं था—दूधका ही बना था।

"कहाँइन, पानी दो।" जीजीने गगरा कुछ दूर खिसका दिया। कहाँइन बचते-बचते सरका ले गई गगरा। मैंने कहा, "यह कौन सी रेखा है?"

"अब क्या रेखा है? सास थीं तो क्या मजाल कि इस आँगनमें कोई पग डाल दे! इतना छूआ-छूतका बंधन था तब, कि—आफत थी।"

"क्यों, आफत क्या थी! अच्छा ही था।"

"हाँ, अब मैं भी यही सोचने लगी हूँ। शुरू शुरूमें आई थी शहरसे तो तबीयत ऊबती थी यह सब देखकर। पर माँजीने मुझे बिलकुल बदल दिया।...उनके सामने मैंने पूजाकी कोठरीमें जानेसे इनकार कर दिया था। अब सोचती हूँ तो अपने ऊपर तबके हल्केपन पर लज्जा आती है।"

"एक बात कहूँ जीजी···जाने दीजिए खैर !···" मैं लजा गया और उनकी पूजा वाली तस्वीर दिखती रही सामने।

जीजीने देखा तो मुझे उत्सुकतासे ही, पर बोलीं कुछ नहीं कि जैसे—जाने दीजिए, नहीं कहना चाहते तो !

खाकर उठ आया। दुग्धधवल शय्या पर लैम्पकी रोशनी बिखर रही थी। जल्दी ही सो गया।

आधी रातको नींद खुल गई। गलेके पास जलन हो रही थी। पेट दर्द कर रहा था। उठकर बैठ गया। ऐसा लगा जैसे पेटमें कितना कूड़ा भर उठा है। जैसे गले तक कुछ भरा हुआ है, कुछ ऐसा कि जिसकी गैस नितांत असहनीय, तीव्र तामसिक है।

पास ही चौकी पर लोहू सोया था। चारपाईके नीचे गगरा लोटा था। मेज पर लैम्प धीमे-धीमे जल रहा था।

पेट भीतरसे जलनमें तकलीफ देने लगा तो उतर कर पानी भरा लोटेमें। पर रातमें जाऊँ कहाँ ? किधरसे ?

संकोचमें बैठ रहा। पर जब नहीं रहा गया तो लोहूको जगाया। उसने चहारदीवारीका दरवाजा खोला। खेतों कारास्ता दिखाया।

उस समयसे लेकर सुबह तक चैन नहीं पड़ी। रात आते-जाते में बीत गई। बड़ी कमजोरी आ गई। बिस्तर पर पड़ा-पड़ा कराहने लगा। कमजोरीके मारे तड़के नींद आई। देर तक सोता रह गया। धूप ज्यादा हुई तो लोहूने जगाया।

ओसारेमें जीजी थीं। पूछा, "कैसी तबीयत है ?"

"ठीक हूँ।"

"लोहू बता रहा था।···ऐसा पता होता तो शामको खाना ना देती। नहा लीजिए तो दवा-दरपनकी व्यवस्था हो। आज कुछ भी न खाइएगा।"

नहानेके पहले एक बार बिना आवश्यकताके ही खेत हो आना ठीक समझ कर निकला।

आज ठीकसे देख पाया कि कितना बड़ा अहाता है। कमसे कम नहीं तो दो फर्लांगकी लम्बाई-चौड़ाईका तो होगा ही। इसके भीतर ही फुलवारी भी है और जानवरोंके रहनेकी घारी भी। घरके चारों ओर बड़ी हरियाली थी। अभी धूप इतनी चटख नहीं हुई थी कि हरियाली भी न अच्छी लगे। हरियालीमें ठण्डक थी और ठण्डकमें कुछ चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। एक पेड़के नीचे रुक उस चहचहाहटका आनन्द लेते हुए मैं सोचने लगा कि जब इस घरका शृंगार होता रहा होगा तो यह कैसा लगता रहा होगा।

जमींदारीके चले जानेसे जो पारिवारिक स्थिति हो जाती है उससे अभिन्न परिचय है। जीजीने बताया नहीं फिर भी मैं समझता हूँ कि देवर शहर क्यों चले गये। अब वे वहाँ सौ दो सौ की नौकरी करते होंगे। बाबू तबकेकी शोभा बढ़ाते होंगे। यहाँ ये लोग जिन्दगी आगे खींच रहे हैं। धीरे-धीरे करके इन दीवारों पर हर बरसातमें काई जम जायगी। फिर घासें निकलेंगी। यह जो सदियोंसे बनाई गई संस्कृति है—रुचिकी अभिजातीयता है, घरके भीतरकी किताबों और कलाकृतियोंकी लायब्रेरी है, यह सब एक

दिन उसी घासके नीचे दब जायगी। यह बखरी गिर जायगी। दब जायगा उसीके नीचे सब कुछ। शायद एक पीढ़ी तक ये अपनेको कायम रखें। फिर उसके बाद इनके वंशज सब कुछ भूल अन्न-वस्त्रके पीछे लड़ेंगे और एक दूसरेको नोचेंगे। अपनी स्वार्थांधताके अंधकारमें उन्हें कुछ न सूझेगा।। कुछ न सोच पायेंगे। इन खंडहरोंके नीचे क्या कुछ न सो जायगा!

लौट कर आया। नहाया धोया। कपड़े पहन कर आया तो अपने ऊपर ग्लानि हुई कि कितने गंदे कपड़े पहने हूँ। जीजी ने दवा दी। आज कुछ दूसरे ढंग की थी। बोलीं, "आप चाहें तो लायब्रेरी में ही बैठिए।"

मैं तैयार हो गया। जब चलने लगा तो कुछ तो कमजोरी थी और कुछ कमजोरी से चलना बड़ा रोमैंटिक लग रहा था इससे चल रहा था धीमे धीमे असहाय होकर। जीजी बोलीं, "आज आपको काफी कमजोरी है।...कहाँ पा गए यह बीमारी?"

मैं मुस्कराया और बोला, "यह लम्बी कथा है।"

जीजी चुप रहीं। लायब्रेरीमें मैं अपने चारों ओर किताबें फैला पसर गया। जीजी कुछ देर किताबें बताती रहीं फिर घरमें चली गईं।

लौट कर आते ही कालीन पर बैठ बोलीं, "अच्छा बताइए, क्या कथा है?"

मैं 'खो खो' कर हँसा। फिर तनिक नाज नखरेके बाद कल वाली पूरी घटना सुना गया। एक दो मिनट चुप रहनेके बाद

बोलीं, "अच्छा, यह बताइए कि आप क्यों चक्कर काट रहे हैं यों ही पैदल ?"

ऐसे प्रश्न की अपेक्षा जीजीसे नहीं थी। और कहीं किसीने पूछा होता तो जवाब दे ले जाता। पर यहाँ कुछ न समझ पाया। भौंचक हुआ उन्हींको देखने लगा। क्षण रुक बोलीं, "राजलक्ष्मी को तो नहीं ढूँढ़ रहे हैं ?"

"राजलक्ष्मी और अन्नदा जीजी ?"

"हाँ।"

"वे कहाँ मिलती हैं ? सब झूठ ही है।"

एक मिनट चुप रहीं। फिर बोलीं, "झूठ नहीं हैं। वे सब हैं। ऐसा मत सोचिए कि हैं ही नहीं।"

"होंगी भी तो दिखतीं नहीं।...और सौ बातों की एक बात कि जब हम श्रीकांत नहीं हैं तो राजलक्ष्मी मिलें कैसे ! जब हम विप्रदास और स्वामी के समान नहीं बन पाते हैं तो यही क्यों सोचते हैं कि हमें वैसी दीदियाँ मिल जायँगी। मेरी रायमें शरत्‌ने स्त्री पात्रोंको ऊँचा नहीं दिखाया है। ऊँचे तो उनके पुरुष पात्र हैं। पात्राएँ तो उन्हींसे प्रेरणा पाकर उनकी छाया बनना चाहती हैं।... लेकिन जीजी, आपने यह कैसे सोचा कि राजलक्ष्मीको ढूँढ़नेके लिए मैं घरसे निकला होऊँगा ?"

"इस प्रश्नका आधार है।...एम० ए० में पढ़ती थी। साथमें एक लड़का पढ़ता था। टिपिकल अवश्य लगता था, पर सोचती हूँ कि शायद वही स्वाभाविक था। टिपिकल तो और सब हो गए हैं सामाजिक परम्पराओंमें डूबकर। हाँ तो, वह एक दिन

फ़ाइनल ईयरमें शुरू जुलाईमें ही भाग गया बिना किसीसे कुछ कहे सुने। फिर वह लौटा तीन चार महीने बाद। दुबला हो गया था और बदल भी गया था। एक दिन बात हो रही थी उसीमें कहने लगा कि राजलक्ष्मी आदि सब झूठ हैं। कहीं कोई नहीं मिलता। शरच्चंद्र संसारके सबसे झूठे कलाकार हैं। तब उसका भाग जाना, लौटकर आकर यह स्टेटमेंट देना बड़ा अजीब लगता था। हम सब लड़कियाँ उसे झक्की समझती थीं। आज सोचती हूँ कि ऐसी बात नहीं है। इधर मैं बहुत बदल गई हूँ। 'उपेक्षा' के इतने केसेज़ देखे कि लगता है कि हम लोगोंके यहाँ यही यह समाई हुई है। चार टोक प्यारसे बोल देनेसे कोई लड़का कितना द्रवित हो जाता है, कितना सेवा तत्पर हो जाता है। इससे लगता है कि यह लड़के कितने उपेक्षित कर दिए गए हैं। वह तो भाग ही गया किंतु साइकोलाजीके बहुतसे केसेज़ देखकर समझी हूँ कि दिवास्वप्नोंके कितने शिकार होते हैं ये बेचारे लड़के! और यही आगे चलकर उनकी जीवनी शक्ति मार देती है। वे आलसी हो, पड़े रहते हैं। चुप चाप ख्वाब देखते रहते हैं। पर इसमें उनका अपराध नहीं है। कतई नहीं है ...। लड़के शरत् की राजलक्ष्मी ही नहीं, दाण्डेकर की जसोदा और प्रबोध बाबू की रानीको भी ढूँढ़ने निकलते हैं ..."

"नहीं जीजी, मैं उस अभियान में नहीं निकला हूँ। जिसमें निकला हूँ या जो ख्वाब देखता हूँ, बल्कि कहूँ कि जो ऐम्बीशन के रूप में भी कभी रह चुकी हूँ, उसे सुनेंगी तो हँसी आएगी।"

जीजी चुप होकर देख रही थीं। निष्कर्ष निकाला कि सुनने

में एतराज नहीं है। चालू रहा, "अभी एक साल पहले तक मेरी ऐम्बीशन यह थी कि एक पैसे में बाइस्कोप का तमाशा दिखानेवाला बक्सा ले लूँ और निकल पड़ूँ, आवाज़ लगाता—बम्बइया धोबिन देख, राजा रानी देख, देवर भउजी देख औ देख तमासा देख, देख तमासा देख···"

जीजी खिलखिलाकर हँस पड़ीं। बोलीं, "यह तो शुद्ध ऐडवेंचर-रस वृत्ति मालूम पड़ती है।"

"अब जो कुछ हो।"

जीजी चली गईं और मैं लेटकर श्याम तिवारीकी अवधी कविताओंके संग्रह 'दूबि अच्छत' को पढ़ता रहा।

शायद एक घंटा हो गया रहा होगा। बड़का बाबू आए। लगता था कि नहा कर आ रहे हैं। बोले, "माफ कीजिएगा। आया तो बड़ी चिपचिपाहट लग रही थी, इससे पहले नहाने में ही लग गया। सुना इधर आपकी तबीयत और खराब हो गई!"

"नहीं तो, ठीक ही है।"

जभी जीजी दवा लेकर आईं। बोलीं, "ठीक कैसे है! लोहूसे पूछिए।"

बड़का बाबूसे कुछ औपचारिक और कुछ दवा सम्बन्धी बातें हुईं। फिर वे जीजीसे कुछ बताने लगे, "कल पाँड़े मिले थे। कह रहे थे कि चुनाव जरूर लड़ेंगे चाहे जो हो जाय। कांग्रेसके टिकटकी कोशिश करेंगे पहले, नहीं तो फिर जनसंघका टिकट तो मिल ही जायगा।"

"और भी कुछ कहते थे ?"

"वही सब पुराना रोना। गाँवके इस आदमीको इतनी मदद की उसको उतनी मदद की। किसीको थान्हेसे छुड़ा लाये, किसीको मुकदमेसे बचा लाये पर सब स्वार्थी हो गये हैं। किसीमें तनिक भी एहसानकी भावना नहीं। गाँवमें निकलते हैं तो ये सब छोटी जाति वाले उन्हें देख पहलेकी तरह चारपाई छोड़ खड़े नहीं होते हैं। सबने छप्परके मकान गिरा खपड़ैलके पक्के मकान उठा लिये हैं, चमारोंकी स्त्रियाँ सोनेके गहने पहनने लगी हैं, उनके पास एक दो भैंसे भी हो चली हैं। चमार अपने लड़कों लड़कियोंका नाम हम लोगोंकी तरह शिवपरसाद और रामरत्ती रखने लगे हैं, कोई गाँवमें काम नहीं करता, बजारमें मजूरी करने जाते हैं—यही सब रोना।"

"क्यों इनको बुरा लगता है लोगोंका सम्पन्न होना देखकर ? इतने ईर्ष्यालु क्यों हैं ?"

"ईर्ष्याकी बात नहीं है। अभी कल तक—जमींदारी जानेके पहले तक सब इनकी रिआया कहलाते थे, इनकी बेगार करते थे। इन्हें देख हाथ बाँध खड़े हो जाते थे। वे ही अब इन्हें देख चारपाई छोड़ खड़े भी नहीं होते तो मनको धक्का पहुँचता है। अपने अहंको ही संतुष्ट करनेके लिए तो ये एम. एल. ए. बनना चाहते हैं। ये तो दयाके पात्र हैं कि 'इगो' को कितने सस्ते तरीकेसे खुश करना चाहते हैं।"

"अच्छा, क्या सभी जमींदार इसी तरहके होते हैं ?"

"तुम जिस परम्परामें रह रही हो, यह भी क्या सत्य नहीं

है ? और यह सब मेरी आजी अपने मायके से लेकर आई थीं, वहाँ जाने कै पुश्तकी सांस्कृतिक परम्पराकी धरोहर उन्होंने पाई, यह सब भी तुम्हारे प्रश्नका उत्तर है कि नहीं ?"

जीजी चुप लगा गईं। कुछ देरमें बड़का बाबू चले गये। मैंने पूछा जीजीसे, "जीजी, आप यों तो बड़ी-बड़ी बातोंमें दखल रखती हैं किंतु उनके सामने बच्चोंकी तरह शंकाएँ करती हैं।"

"मैं जो कुछ हूँ, उन्हींकी कृपा हूँ। उनके सम्पर्कमें आनेके पूर्व मैं थी ही नहीं। शहरमें थी, पढ़ती थी। जब सुना कि विवाह के बाद यहाँ रहना होगा तो लगा कि किस गुफामें ढकेल दी जा रही हूँ। जिस सभ्यता और संस्कृतिमें पली थी—शहरोंमें जो तरह तरहके सुख साधन प्राप्त थे, उन्हें छोड़ना पड़ जायगा—यह जान ऐसी रोई थी, ऐसी रोई थी···। मैं अपनी यूनिवर्सिटीकी असेम्बलीमें होम मिनिस्टर थी। लोगोंके बीच उठना बैठना, सभी विषयों पर बहस करना, सिनेमा, लायब्रेरी, काफी हाउस···। बस एक ही संतोष था कि ये डबल एम० ए० हैं। इसीसे घर वालोंसे विद्रोह न कर पाई। विवाहके बाद शुरूके चार छः महीने मेरे यहाँ कैसे कटे हैं—मैं ही जानती हूँ जिसने भोगा है। पर बादमें ये मुझे लेकर शहर चले गये। आठ महीने वहीं रहे और मुझे बिलकुल ही बदल दिया। लम्बी कथा है वह भी कि कैसे ये मेरे मन प्राणोंमें सम्पूर्ण रूपसे छा गए। कैसे मेरे जीवनमें···"

एकदमसे रुकीं। लजाईं। बोलीं, "अरे मैं क्या कह गई !"

"नहीं, नहीं, बताइए जीजी !"

"कुछ नहीं। अब तो...। पहले जिसे गंदगी और बीमारीका

कीचड़ समझती आई थी उन्हीं गाँवोंमें मैंने कुछ अपूर्व पाया है। इन सब देहातियोंको गँवार जपट्ट मूर्ख समझती थी—पर उन्हींके बीच रह कर उनमें जो कुछ पाया, उसीने मुझे मेरी आत्मा दिखा दी।...शायद बड़ी भावुक लगती होऊँगी। पर ऐसा है नहीं। सच कह रही हूँ कि इनके सम्पर्कमें आ कर मैंने पाया ही है। और अब तो इन्हें मैं छोड़ नहीं सकती।...एक छोटी बात बताऊँ। शुरूमें इन लोगोंको भवानी, देवी देवताओंको पूजते देखती तो अंधविश्वास पर हँसा करती थी। किसी पेड़के नीचे काली माई, कहीं डिउहारे बाबा, कहीं कोई, कहीं कोई। जब तक घरमें रही, सब तमाशा लगता रहा। पर एक बार इनके साथ अयोध्याके मेले गई बैलगाड़ीमें। रास्ता वनमें होकर जाता है। कातिककी पूनोका मेला था। चाँदनीमें हम लोग पेड़ोंके नीचे नीचे सड़क पर जा रहे थे। कुछ स्त्रियों-पुरुषोंका झुण्ड गाते हुए जा रहा था। हम लोगोंको किसी कार्यवश रुकना पड़ा। बैलगाड़ीसे उतर मैं इनके साथ एक पेड़के नीचे खड़ी हो गई। कुछ आगे कुछ स्त्रियाँ एक पेड़के नीचे आग सुलगाए थीं। कोई पूजा जैसी चल रही थी। इनसे पूछा तो इन्होंने बताया कि इस पेड़ पर वनदेवीका वास है, वही पूजा चल रही है। उस क्षण मेरे मनमें यह आ ही न सका कि यह जड़ विश्वास मजाककी चीज है। कतकी चाँदनीमें जैसे कोई मूर्च्छना थी। फैली हुई वन श्री पर सोई चाँदनीका पवित्र नशीलापन चारों ओर जैसे यह विश्वास उत्पन्न कर रहा था कि हाँ इसकी कोई देवी है ही। जब तक खड़ी रही, मनमें अपूर्व श्रद्धा आ समाई उस चाँदनी, उस वन छवि, उस देवीके लिए। बैलगाड़ी चलने पर

ओहारके बाहर चेहरा निकाल कर रास्ते भर देखती ही गई वह सब कुछ।..."

वह सब सुन मेरे मनमें ललक उठी कि अभी इसी क्षण चल दो उस वन-पथ पर जिससे जीजी गई थीं। कहा, "मैं भी जाकर देखूँगा उस स्थानको। जीजी, आप पता बता दें।"

"नहीं, नहीं। अभी नहीं। गर्मीके दिनोंमें जाइएगा तो धक्का लगेगा मनको। शरद्कालमें जाइये। एक तो अब सब ओरसे वन-प्रदेश खाली होता जा रहा है। उनमें से पहले हम लोगोंका भी बहुत-सा हिस्सा था। अब नहीं रहा। ये वन नहीं काटने देते थे अपने भागका। समझती हूँ मैं इनके मनकी पीड़ा। आप भी जब रह आएँगे उन वृक्षोंके बीच कुछ दिन, तो यह समझ जायँगे। यह अनुभूति ही अलग है। अवश्य जाइए वहाँ। पर अभी नहीं। बिलकुल न जाइएगा नहीं तो उसका वास्तविक स्वरूप आपके सम्मुख न आ पाएगा। चार महीने बाद जाइएगा। समय निकाल कर आइएगा। ये बहुत प्रसन्न होंगे आपको ले जानेमें वहाँ।..."

लोहू बुलाने आया तो चली गई। मेरा मन पढ़नेमें न लग सका। इच्छा हुई कि चार महीने पलमें निकल जाते और मैं देख पाता उस चाँदनीको।

आज ईसपगोलकी भूसी दहीके साथ खानेको मिली। पेट ठीक रहा। नाई आया तो उससे दाढ़ी बनवा ली। और समय चुपचाप लायब्रेरीमें ही पढ़ता रहा। कुछ लिखता भी रहा। दोपहरी

में जीजी आईं। बड़का बाबू भी। बोलीं जीजी, "क्या-क्या पढ़ डाला ?"

"कुछ नहीं। यों ही उलटता-पुलटता रहा।"

"कुछ लिख भी तो रहे थे।"

"अरे नहीं। कुछ चिट्ठियाँ थीं।"

"ना। कुछ और था। क्या अपनी यात्राको लिख भी रहे हैं।"

"हाँ।"

"तो सुनाइए न !"

कापी खोल ली मैंने और सुनाने लगा, "जब उस गाँवमें पहुँचा तो शाम होगई थी। प्यास लगी थी, इससे एक कुएँ पर रुक गया। पनघट पर बीस पचीस सुन्दर लड़कियाँ पानी भर रही थीं। सब बड़े खूबसूरत कपड़े पहने थीं। एकने मुझे देखकर कहा, "हे परदेशी, कहाँ जाओगे ?" मैंने कहा, "दूर, बहुत दूर। मेरी मंजिल बहुत दूर है।" एक लड़की शर्मा कर बोली, "क्या पानी पिओगे, परदेशी ?" मेरे "हाँ" कहने पर वह घड़ा ले आई। मैंने हाथ मुँह धोया और अपनी कमीज में पोछने चला तो उसने दुपट्टा देकर कहा, "इसमें पोछ न लो, परदेशी !" मैंने उसीमें पोछ लिया और उसकी ओर देखा। वह भी मुझे देख रही थी। पाँच मिनट तक हम दोनों एक दूसरेकी आँखोंमें झाँकते ही रह गये। जब सब लड़कियोंके खिलखिलाने की आवाज आई तो ध्यान टूटा। लड़कियाँ पास आ गईं। एक बोली, "हे परदेशी तुम आज रात यहीं रहो न !" मेरे "हाँ" करने पर वे बहुत खुश हुईं और

नाचने गाने लगीं। फिर चली गईं। थोड़ी देर में फिर लौटीं और चाँदनी रातमें लुकी लुकौवल खेलने लगीं। गाँवके भी कुछ नव-जवान आ गये और मैं भी हो गया। सब मिलकर खेलने लगे। खेलके बीचमें वही लड़की जिसके दुपट्टेमें मैंने मुँह पोछा था, मुझे अलग लिवा ले गई, नदी किनारे। वहाँ हम नाव पर बैठे। नावमें बाँसुरी थी। मैं बजाने लगा और वह गाने लगी। गाना समाप्त होने पर बोली, "परदेशी अपने साथ मुझे भी ले चलो।" मैंने उसका हाथ अपने हाथमें ले लिया और बोला, "चलो हम अभी भाग चलें।"

बड़का बाबूने मु का और बोले, "क्या आप फिल्म कम्पनीमें भी काम कर चुके हैं?"

मैं बोला, "जी हाँ। उसीके लिए तो यह लिख रहा हूँ। फिल्मका नाम होगा—'भारत का भूखा किसान।' मैंने ही गाने भी लिखे हैं और सेटिंग्स भी बनाये हैं। सेटके चित्र भी बनाये हैं।"

"देखूँ" कह जीजी कापी छीन ले गईं। हक्का बक्का हो उसे ताकती रह गईं। बोलीं, "कहाँ? इसमें तो है नहीं। बिल्कुल सादी।"

"क्या!" कह बड़का बाबू ने उनके हाथ से कापी छीन ली। बोले, "कहाँ से सुना रहे थे आप?"

मैं ठठाकर हँसा। जीजी बोलीं, "ओफ्फोह! मैं तो कहूँ कि ये क्या सुना रहे हैं। मैं समझी कि किस साहित्यिकके दर्शन हुए!"

बड़का बाबू बोले, "कमाल है भाई। मैं भी घबड़ा गया था कि ये फिल्मी स्टोरी राइटर कहाँसे आ गये !···वाह ! मजाक अच्छा रहा !···"

मैं बोला, "घरसे कापी लेकर चला था कि कुछ लिखूँगा। पर कुछ न संभव हो सका। कहीं-कहीं डायरीमें कुछ संकेत अवश्य लिखे हैं।"

फिर और और बातें होती रहीं। जंगलोंके विषयमें, आस-पासके गाँवोंके विषयमें बड़का बाबूने बहुत कुछ बताया। उन्होंने भी मुझे आजकल जंगल देखने जानेको मना किया। शरद्कालके लिए निमंत्रित किया।

शाम तक मेरा पेट ठीक हो गया। कई पेय मिले। रातमें खिचड़ी देनेका निर्देश भी मिला बड़का बाबूकी ओरसे। शामको ही गाड़ी पकड़नेके लिए वे फिर चले गये। दूसरे दिन दोपहर तक लौटनेके लिए कहकर। उनके जाते समय जीजीने बड़े-बड़े फूलों वाली सारी पहनी। मुझे बहुत खराब लगी। जीजीकी मुद्रासे लगा कि जैसे वे उनके जानेके पक्षमें नहीं थीं।

रातमें खाना खानेके लिए उठने पर कई बार मनमें आया कि धोतीकी बुराई कह दूँ। पर चुप लगा गया—उनके उखड़े चित्तको देख कर।

जीमनेके बाद रातमें वे ओसारेमें आईं। अब कुछ ठीकसे बोल रही थीं। मैं उठ बैठा और फिर चारपाईसे उतर कर उनके पास जा खड़ा हो गया। वे बोलीं, "पानी रखा है न्, रातके लिए ?"

लोहूके बोलनेके पूर्व ही मैंने हाँ कह दिया। फिर मुझसे रहा नहीं गया और बोल ही दिया, "जीजी, आज आपने यह कैसी गंदी सारी निकाली है। बिलकुल अच्छी नहीं दिखती।"

"तो मत देखो। आपके लिए तो पहनी नहीं है। जिस एकको अच्छी लगनी चाहिए, उसे लगती है।"

सनाका हुआ। फिर भी कहा, "तो यह सब पहनना ओढ़ना, अच्छा-अच्छा दिखाना क्या एकके ही लिए होता है?"

"बिलकुल एकके लिए।"

चुप लगा गया। पर आध मिनट बाद ही कहा, "लेकिन जीजी, देखो तो! यह फूल कितना बड़ा है! तुम्हीं निर्णय करो न्!" कह कर मैं लपक कर उनके लटकते आँचरके छोरके एक फूलको पकड़ने चला। वे एक कदम पीछे हट गईं। बोलीं, "अपनी औकातमें रहिए और बात करनेकी तमीज सीखिये। मैं 'तुम' नहीं हूँ।"

झमक कर भीतर चली गईं। मैं अपमानकी आँचमें रह गया। बिस्तर पर आ लेट गया। दृष्टिके सामने उनका झनकना घूमता रहा। जितना ही इस पर सोचा, मन और अधिक अपमानित महसूस करने लगा।

पर किसी तरहसे समझ-समझा कर सो गया।

आधी रातको नींद खुल गई। पेट बिलकुल ठीक था। पर मन नहीं। रात वाली घटना एकदम याद आ गई। अपमान महसूस

करने लगा। उस बातको जिस पहलूसे भी सोचता था, वही बड़ी बुरी मालूम देती थी। पी सकना सम्भव नहीं हो पा रहा था।

यहीं सब सोचते-सोचते तीन बज गये। उठ बैठा। शौच गया। कुल्ला करने आदिमें चार बज गया। लोहूको जगाया कि मेरा झोला छाता निकाल दे। वह जीजीको बुलाने जाने लगा। मैंने कहा, "जीजीसे रातमें ही आज्ञा ले चुका हूँ। तुम बाहरके कमरेमें से झोला छाता निकाल भर दो।"

उसने निकाल दिया। तैयार होते-होते सवा चारसे भी ऊपर हो गये। चाँदनी फीकी पड़ने लगी थी। चिड़ियोंकी इकली-दुकली आवाज सुनाई पड़ जाती थी।

एक रुपया निकाल कर लोहूको दिया। कहा, "जीजीसे प्रणाम कहना।"

वह फाटकके बाहर आ कर मुझे खेतोंके किनारे तक पहुँचाने आया। फिर लौटा। थोड़ा चल कर कासकी घनी घासोंके बीचमें मैं खड़ा हो गया। पीछे घूम कर देखा। बखरी चाँदनीमें अर्धसुप्त पड़ी थी। चुपचाप खड़ा देखता रहा। चारों ओर सन्नाटा। भोर-हरीकी ठण्डी हवा। ऊपर तारे नहीं, नीचे सूरजकी रोशनी नहीं। खड़ा रहा। देखा किया बखरीकी ओर।

मन जाने क्यों विकल हो आया। छातेकी टेक ले ली।

फिर एक निश्वासके साथ सारे मोहके लगावको तोड़ दिया। आगे बढ़ा।

●●

११

# विश्राम

नदी किनारे पहुँच रुका। सूर्यकी पहली किरन नदीके पानीमें नहा रही थी। उस पारसे एक अहिरिनि आ रही थी, सिर पर मटका रखे। उसे रोक उसकी बोहनी की। मट्ठा पेटके लिए गुणकारी होता है, सोचा।

गुणको उदरस्थ कर आगे बढ़ा। थोड़े ही आगे बकाइनका एक पेड़ था। छाँहमें खड़ा हो गया। बगलमें ही अमारका एक पेड़। पत्तियाँ ऊँचे पर थीं। मुँहमें खटाईका ख्याल आ कर पानी भर आया। खड़े होकर नदी पारकी सरपतकी घासोंको देखता रहा।

पास ही खेतकी मेंड़ पर कुछ बच्चे खेल रहे थे, उनकी बकरियाँ चर रही थीं। अचानक बच्चे बोले, "हाथी, हाथी, हाथी!"

मैंने भी घूम कर देखा, एक हाथी बड़ी तेजीसे आरहा था।

उसकी तेज चाल देख कर डर लगा। हाथी पागल होने पर, सुना है कि बहुत तेज भागता है। धीरे धीरे चलते हाथीको देख कर डर लगता है, यह तो भाग ही रहा था। कहीं पागल ही न हो!

पास आते आते उसकी चाल धीमी हुई। और बिलकुल पास आकर वह रुक गया। अब देखा—लोहू बैठा था। हाथी बैठा तो वह उतरा। बोला, "दुलहिन बहुत नराज भइँ हमारे ऊपर। आप लौट चलिए।"

मैं मुस्कराया—मतलब आंतरिक नहीं।

वह हाथ जोड़ बोला, "बोली हैं कि जरूरसे चले आएँगे। नहीं तो बुरा मान जायँगी।"

"कह देना कि कुआरमें आएँगे।"

उसने बहुत बहुत हाथ जोड़े, पर मैं न माना। तब बोला, "अच्छा तो, जहाँ जा रहे हों, हाथी पर चले जायँ। भेजा है।"

थोड़ा कहने सुनने पर मैं मान गया क्योंकि थक गया था, कमजोरीके कारण। कहा, "लेकिन दो तीन घंटे तक ही। आगे नहीं।"

हाथी पर बैठा। छाता लगा लिया। आगे बढ़ा।

तीन चार फर्लांग आगे ही रेलवे लाइन पड़ी। उसके कुछ पहले ही वनका प्रारम्भ। बारबार मनमें हुआ कि इधरसे ही चलूँ। पर मनको समझाया। नदी-पथ छोड़ कर बाईं ओरसे चला कि कुछ आगे जहाँ वन समाप्त हो जायगा, नदी पकड़ लूँगा। जंगलोंमें कई मील घूम घाम कर नदी बाएँ घूम कर आगे चलती हैं, पूर्वकी ओर।

हाथी पर बैठा बैठा, दूरसे ही हरियालीको देखता रहा। बार बार देखूँ और बार-बार ध्यान हटा लूँ। भय लगता था कि कहीं देखते ही देखते यह न आ जाय मनमें कि आओ चलो देख ही लो। शरद्‌कालमें दुबारा सही। पर यह जानता था कि यदि जीजी और बड़का बाबूने मना किया है तो मेरे हितमें ही। प्रथम संस्मरण ( फर्स्ट इम्प्रेशन ) बड़ी महत्वकी चीज होती है, इसी ख्यालसे शरद्‌में ही देखनेको कहा है।

सोचता रहा कि घरसे चला इसी वन्य धरतीके आकर्षणसे और यहाँ उसे देख ही नहीं रहा हूँ।

गर्मी बहुत थी। पीलवानसे कह दिया। बोला, "हुजूर, बस आजकलमें पानी बरसता है। तपन बहुत हो गई। अँधौरियोंके मारे आफत है।"

ग्यारह बजे नदी मिल जाने पर हाथी लौटा दिया। एक रुपया इनाम दिया।

●●

१२

# जननी जन्मभूमिश्च....

पीलवानके आँखोंसे ओझल हो जाने पर नदी-तट पर ही आगे बढ़ा।

इधर नदी चौड़ी हो गई थी। पानी भी बहुत था। एक जगह जमुआरीके बीच नहानेके लिए रुका। घाट जैसा लगता था। पानी बुड़ावमें था। तैरनेकी इच्छा हो आई तो उसी तनिक से पानीमें इस पारसे उस पारसे इस पार करता रहा। मन हल्का हो आया तो निकला। भूख खूब लगी थी।

कपड़े पहन फिर आगे बढ़ा।

इधर नदी किनारे हरियाली बहुत थी। मालूम पड़ता था कि नदी किनारे अब आये हैं। जंगली फूल-पौदे किनारे-किनारे उगे थे। पता चलता था कि किसी समय यहाँ सब भी वन रहा होगा। लोगोंने काट-छाँट कर घर बसा लिये, खेती करनी प्रारम्भ कर दी।

गर्मी बहुत थी, फिर भी बीच-बीचमें नदीके ऊपरसे कोई झोंका आ ही जाता था। मनको तुष्ट करनेके लिए बहुत था। उसीमें चलता गया।

आगे प्याससे कण्ठ सूख गया पर नदी माँ का दान स्वीकार करनेका साहस न हुआ। पासमें ही कोई पुरवा दिखा। बाएँ घूम गया। सबसे किनारे वाले घर के सामने ही कुआँ दिखा तो रुक गया। कुआँ शायद शहंशाह शेरशाह या सम्राट अशोकका खुदवाया हुआ था। जो दो चार ईंटें बची थीं, वे लखनऊके संग्रहालय तक जानेकी अपेक्षा रखती थीं। कुआँ ऋषियोंकी तरह प्रकृति प्रेमी प्रतीत होता था। अपना सर्वस्व दान कर एक गूलर और पाँच छः अन्य जड़ी बूटियोंको प्रश्रय दिए हुए था। एक सयाना लड़का पानी भर रहा था, नहीं तो मेरी बुद्धि में अकस्मात् यह ज्ञान न उत्पन्न होता कि यह कुआँ है। मैं उसे कोई कुंज ही समझता।

कुएँ में झाँक कर देखा तो पाया कि पेड़ पौधों ने कुएँके दानके प्रतिस्वरूप स्वयं भी कुछ, बल्कि अधिक ही दान देनेकी प्रथाका पालन किया था। लड़केसे बड़े दुलारसे पूछा, "इसका पानी पिया जाता है भइया ?"

बड़ा दुलार आँखीमँ अँड़ुरी !

जाने क्यों उसने मुझे बहरा समझ लिया। मुझ तक पहुँच पाने वाले स्वरमें चीखा, "और खुदवाया किसलिए गया है ?"

कुछ नम्रता रख कर मैंने पूछा, "भइया रे, मेरा मतलब कि पानी अच्छा होता है ?"

"नहीं, जहर होता है !" वह ऐंठ कर चलने लगा।

उसके व्यंग्य वाक्यसे मन तप गया फिर भी पूछा, "एक डोरी का इन्तजाम कर दोगे भइया ?"

अपने प्रश्नके उत्तरमें अपेक्षा मैं यह करता था कि वह गगरा सामने हाजिर कर देगा। काम निकल जाने पर फिर भर कर ले जायगा। पर उसने मेरे ब्राह्मणत्वका मान रखना आवश्यक न समझा। अपनी राह पर चलता हुआ बोला, "इसी सामने वाले घरसे माँग लो।"

सामने वाले घरके सामने खड़े होकर चिल्लाकर भीतरसे डोरी माँगना मेरे लिए दुष्कर कार्य था। पता नहीं सब सो रहे थे, या खा पी रहे थे। कोई नवविवाहित दम्पति ही हों तो !

क्रोधमें मैं खड़ी बोली पर उतर आया, "इधर सुन बे !"

सीधी अँगुली घी नहीं निकलता। लड़का तुरंत खड़ा हो गया। गगरा जमीन पर रख दिया। घूम कर मुखातिब हुआ। मैं और जोरसे चिल्लाया, "इधर बुला रहा हूँ ?"

वह तुरन्त गगरा उठा कर सामने आया। उसके चेहरे परके डरके भावको पढ़कर मैं गुर्राया, "तेरा नाम क्या है रे ?"

"घुरहू।" सीधा स्वर था।

"अबे, घुरहूके बच्चे ! बात क्यों नहीं सुनता है ? कौन जात है ?"

"कुर्मी, बाबूजी !"

ठीक। रास्ते पर आया। मैंने अपने स्वरकी गर्मी कायम

रखी। पूछा, "कुछ पढ़ा लिखा भी है, या अभी तक घास ही खोदता रहा है ?"

मेरा स्वरावेग घरमेंसे एक आदमीको निकाल लाया। शायद पीछे द्वारकी आड़में कोई स्त्री भी आई। पुरुषने पूछा, "क्या सरकार, लड़केसे कुछ कसूर हो गया ?"

"इस बेवकूफको बिलकुल अक्ल नहीं है। अभी नाप दूँ गरदन, तो पता चले। ला इधर पानी। अभी जाँच करता हूँ और चालान करता हूँ। मजाक समझ रखा है! यह कुआँ है ? इसी तरहसे कुआँ रखा जाता है ? सबको धोखा दे सकते हो, डाक्टरको नहीं। अभी आला निकाल कर जाँच करता हूँ।" मैंने झोला सँभाला और आला निकालनेका अभिनय किया। और मुँहसे बकता रहा, "समझ क्या रखा है! अभी तो तुम लोगोंके यहाँके घी, दूध, तेलकी भी जाँच करता हूँ। खूब गड़बड़ी—मिलावट करते रहे हो अभी तक, तुम सब लोग। अब ही तो पता चलेगा।"

वह आदमी सामने आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला, "सरकार, खता माफ हो। लड़का नासमझ है, गँवार।"

"अरे यह नासमझ है! इतना बड़ा हुआ, बात करने तककी तमीज नहीं है। अभी इसे धर दूँ किसी दफेमें तो पता चले। तुम्हारे यहाँका डाक्टरी मुआयना करने आया हूँ। मजाक नहीं है। अभी सबको नपवा दूँ तो जान लो।"

इस बीचमें और भी कई आदमी इकट्ठे हो गये थे। कुछ फुसुर-फुसुर शुरू हो गई थी—"कौन हैं रे ?"

"डागदर साहब। आये हैं जाँच करने। जिसने खाद न फिंकवाई होगी, उसका चालान कर देंगे।"

मैं आधे मिनट को चुप हो गया तो उनमें एक आगे बढ़कर बोला, "डाक्टर साहब ऐसी गर्मीमें न परेशान हों। चल कर कहीं ठण्डेमें बैठें। जाँच पीछे करिएगा।"

मैं चुप रहा तो उसने आगे बढ़ कर झोला ले लिया। सामने वालेको बिना मतलब डाँट बोला, "रास्तेमें क्या खड़ा है? चल हट।·····आवा जाय साहब।—"

मुझे जोरकी प्यास लग रही थी। इससे अधिक प्रपंच करना ठीक न समझा। उठकर चुपचाप चल दिया। वह पासके ही एक घरमें ले गया। दौड़ कर ओसारेमें एक चारपाई बिछाई। जोरसे चिल्लाया, "दरी ला रे।"

तनिक देरमें ही दरी बिछ गई। एक गंदा तकिया भी रख दिया गया। मेरा झोला छाता ठीकसे पासमें ही टाँग दिया गया। मेरे लिये जलपानकी व्यवस्था होने लगी।

पीनेके लिये सिखरन—गन्नेकी राबका रस और दही—आया। मुँह हाथ धोनेके लिए गगरा भर पानी अलग। खूब ठाठसे मुँह हाथ धो रस पिया।

इस बीच लोग और बढ़ गये थे। रस पी कर मैं चारपाई पर आरामसे बैठा ही था कि सामनेसे सुना, "डाक्टर साहब, नमस्ते।"

कुछ पढ़े लिखे ब्राह्मण जान पड़ते एक युवक आये और बड़े निस्संकोच भावसे मेरी चारपाई पर बैठ गये। मैंने नमस्तेका उत्तर नहीं दिया था; सम्भवतः इसे ही लक्ष्य कर बोले, "दूबे जी,

आपने मुझे पहचाना नहीं। हम लोग साथके पढ़े हुए हैं। आप तो भूल ही गये।"

बचपनके पढ़े हुएके सामने मेरी स्मृति कमजोर सिद्ध हो, यह मुझे शीघ्र गवारा नहीं होता। फिर भी इस बातका संकोच तो लगा ही कि उन्हें देख कर मैं, बाल-सखाके प्रति उमड़ आने वाले हार्दिक स्नेहको जिस प्रकारसे स्वच्छंद गतिमें बहने दिया जाता है, उस प्रकारसे उमड़ कर नहीं मिला। उस संकोचकी बिलकुल प्रारम्भिक अवस्थामें मैंने मुँहमें अँगुली डाल ली थी, कुछ इस नाट्यके साथ कि मालूम पड़े दाँतमें कुछ फँस गया है, उसे ही निकाल रहे हैं। और इस नाट्यने कुछ बहाना सोच पाने भरका मौका तो मुझे दिया ही। सूझते ही और बड़ा नाटक खेला। शुद्ध अवधीमें उतर आया, "दूबे जी और डाक्टर साहब ही क्यों कह रहे हो? कहो—हुजूर, माई बाप सरकार, गरीब परवर। तभी तो मालूम होगा कि बचपनके पढ़े हुए हो·····दुष्ट कल तक साथमें दवातें फोड़ता था, आज बन रहा है।"

नाटकका अच्छा असर रहा। वे तो हिनहिनाये ही और लोग भी हँसे कि जैसे डॉक्टर साहबने कितनी बड़ी हँसीकी बात कह दी हो।

तब एक दमसे टोन बदल कर मैंने कहा, "और कहो भाय, अच्छी तरहसे तो रहे?"

"हाँ ठीक ही रहे। अपनी कह जाओ।"

मैं बोला कुछ नहीं। हाथ हिला कर ऐसा संकेत किया कि हाँ, किसी तरहसे!

कुछ समयके लिए हम सब चुप रहे। तब वे बोले, "अच्छा तो आप धूपसे आरहे हैं। कुछ आराम कीजिए।"

मैं डर रहा था कि स्कूलके ऊपर कोई बात न होने लगे नहीं तो और भी झूठ बोलना पड़ेगा। इससे तुरन्त ही आराम करने पर राजी हो गया। उन्होंने तुरंत ही सबको डाँट डपट कर भगाना शुरू किया। मैं लेट गया। वे कुछ ही दूरी पर बिछी चारपाई पर चले गये और फुसुर फुसुर दोएक विशेषसे दिखने वाले गाँवके आदमियों से बातें करने लगे। शायद यही सब बातें रही होंगी कि इन्हें तो मैं चुटकी बजाते राजी कर लूँगा। तुम सब निश्चिंत रहो। तुम पर कोई आपदा न आने दूँगा।

मैं आँख मूँद कर दिमाग पर जोर डाल कर याद करनेकी चेष्टा करने लगा कि इनका नाम क्या हो सकता है, किस दर्जेके साथी हो सकते हैं?

कुछ देर तक वैसे ही पड़ा रहा। तब चुप्पीसे अंदाज लगाया कि वे सब वहाँसे चले गये हैं। उठ कर बैठ गया। वे सब वहाँ नहीं थे। कुछ बच्चे चौंचकसे मुझे देख रहे थे। मैंने डायरी निकाली और लिखने लगा। फिर एक बच्चेको बुलाया और गाँव का नाम पूछा। उसने बताया तो मैंने पूछा, "वे जो हमसे बातें कर रहे थे, इस गाँवके जमींदार थे?"

"नहीं वे तो पासके गाँव बनया के हैं।"

फिर बचपनके साथीका नाम जाननेकी इच्छा उमड़ी तो लड़के से पूछा, "पाठक जी कहाँ गये?"

"कौन पाठक जी?"

"अरे यही जो बनया गाँवके हैं।"

"वे पाठक जी थोड़े ही न् हैं। वे तो '—'पाँड़े हैं।"

"हाँ, हाँ, वही पाँड़े जी। मुँहसे पाठक जी निकल गया। गये वे ?"

"नहीं, महतोके घर बैठे हैं।"

मैं डायरी लिखने लगा। इस बीच किसीको सूझा तो गया दौड़ कर पाँड़े जी को सूचित कर आया कि गाँवका नाम लिख रहे हैं पूछ कर और आपके विषयमें भी पूछ रहे थे कि चले गये ? यह सब बादमें उन्होंने मुझे बताया।

पाँड़े जी आये और धीरेसे मेरे सामने वाली चारपाई पर बैठ गये। मैंने लिखना बंद कर उनकी ओर देखा। वे बनावटी हँसी ला बोले, "बड़ा गरीब जाहिल लोगोंका गाँव है।·····अकिल छू भी नहीं गई है।·····यह क्या अपनी जाँचका कागज भर रहे हैं ?"

मैंने इस खेलको अधिक बढ़ाना ठीक न समझ कहा, "बोलिए, क्या लिख दूँ, यहाँके बारेमें ?"

वे पूर्ववत् हँसे, "छोड़ दीजिए, गँवार जपट्ट आदमियोंको।"

"छोड़ दूँ ? सच कहिए !"

वे हें हें हें करके हँसे—माने यह कि मेरे जानेके बाद तुरंत ही गाँव भरको बटोर कर सबको बताएँगे कि यह डाक्टर तो बचपन में मेरा लँगोटिया था। अभी तक इसके ऊपर ऐसा असर है कि जो काम चाहूँ करवा लूँ। आँख मूँद कर लिख देगा जो चाहे लिखा लूँ। तो भइया ऐसे ही करतबसे मैं बात भी तो करता हूँ।

मैंने सोचा चलो इसी बहाने पाँड़ेका कल्याण हो जायगा—इन गँवारोंके ऊपर रुआब रहेगा। डायरी बंद कर झोलेमें डाल दी और कहा, "और कोई हुकुम ?"

"चल कर मेरी कुटियाको भी पवित्र करते किसी समय।"

मैंने कहा, "आपका बनया गाँव तो यही पासमें है न् !"

"हाँ, हाँ,।" उन्होंने धन्य धन्य होते हुए कहा कि डाक्टर साहबको अभी तक मेरे गाँवका नाम याद है।

"चलिए, अभी चलिए।" मैंने उठते हुए कहा।

वे इसके लिए तैयार न थे। अप्रत्याशित उत्तरसे चौंचक हो उठे। मजबूरसे दिखते हुए उठे। बोले, "अभी धूप तेज है। कुछ ठण्डेमें चलते।"

"मुझे धूप कुछ नहीं करती। चल सकता हूँ।"

साढ़े तीन बज रहे थे। भूख लग आई थी। रुपया तुड़ानेके लिए चार पैसेकी जो लेमनड्राप्सकी मीठी गोलियाँ ले रखी थीं; उन्हें निकाला और मुँहमें एक डाल लिया। पाँड़े बोले, "शरीर ठण्डा रखनेकी गोलियाँ हैं ?"

उन्हें विश्वास नहीं था कि बिना दवाईके मैं धूपमें चल सकता हूँ। ऊपरसे केवल मुस्कराते हुए मैंने मनमें कहा, "शरीर ठण्डा कर देनेकी गोली है। खाओगे एक्को ?"

यदि भविष्यत्का हाल जान पानेकी तनिक भी विद्या मुझे आती होती तो मैं उस दिन उनके गाँव न जाता। पर हाय रे प्रारब्ध, तुझे किसने देखा है ?

रास्तेमें पाँड़ेने जब बात-चीतके प्रसङ्गमें जिक्र किया कि अपने

लोगोंके साथ मिडिलमें पढ़ने वाला कुर्मी अब बस कण्डक्टर होगया है तो मेरे सामने उनके भ्रमका पर्दा स्पष्ट हुआ। अभी तक मैं समझता आया था कि मेरे जालने उनके सामने मुझे डाक्टर रूपमें प्रकट किया है। पर अब जाना कि वे मेरे भाई—जो डाक्टर हैं—के सहपाठी रह चुके हैं। मैंने कभी भी मिडिलमें नहीं पढ़ा। एक दो महीनेके लिए प्राइमरी पाठशालाके दर्शन किये थे नहीं तो प्रारम्भिक पढ़ाई अजमेर आदिने पूरी कराई थी। भाई मिडिल कर चुके थे और प्रायः ही लोग मुझे डाक्टर भाई समझ लेनेकी भूल करते रहे हैं।

पर पाँड़े जी के सामने अब सच बात खोल पाना संभव न हो सका।

गाँवमें पहुँचकर उन्होंने 'डाक्टर साहब' 'डाक्टर साहब' का हल्ला मचाकर मेरे चारों ओर अच्छी खासी भीड़ लगवा दी जिसमें बच्चों की संख्या भी काफी थी। खैर उन्हें तो मैंने बड़ी आसानी से छाँट दिया कि, "तुम सब लाइन लगाकर खड़े हो तो सुई लगाऊँ।"

आधे मिनटके अन्दर जो एक भी बच्चा वहाँ रह गया हो।

पानी पिलानेके बाद उन्होंने कुछ आम खिलाये। खाकर मुँह धो ही रहा था कि सामने बैठे वृद्ध खड़े होकर बोले, "सरकार, बुढ़िया बहुत तकलीफमें है। चलकर देख लिया जाय। किरपा हो जाय साहब की।"

बड़े चक्करमें पड़ा। डाक्टरी तो डाक्टरी, हकीमी या वैद्यक का भी क ख ग कभी नहीं जाना। होमियोपैथी तक, कलकत्तेमें

काफी समय गुजारने पर भी, नहीं जानता। पर क्या करूँ अपने ही जाल में आ फँसा था। कहा, "बाबा, सब राम पर भरोसा रखो, पार हो जायगा। हम लोग क्या कर सकते हैं ?"

वह हाथ जोड़े खड़ा रहा—"अरे नहीं साहब, आपकी मेहरबानी हो जाय। आज साल भरसे खाट पकड़े है। आप चलें तो सब ठीक हो जायगा।"

हार कर पाँड़े जी की ओर देखा। वे बोले "अपने ही गाँव का खटिक है। अकेले हैं दोनों प्राणी। कोई बाल बच्चा नहीं। बड़े कष्टमें हैं दोनों। बुढ़ापेकी देह। चल कर देख लीजिए।"

यह अच्छा प्राइवेट सेक्रेटरी पाया कि प्रोग्राम बना रखा है। बड़ी दबी जबानसे कहा, "भाई, मैं नहीं डाक्टर हूँ। वह मेरे भाई हैं।"

सुनते ही पाँड़े हँसे, "अरे दूबे जी आप भी अच्छा मजाक करते हैं।···चलिए न् थोड़ी तकलीफ ही सही।"

बूढ़ा बोला, "बाबू जी, गरीब हूँ। पर गरीबोंके द्वार पर भी कभी हो लिया कीजिए। जब तक जीऊँगा अशीष देऊँगा।"

अकस्मात् एक तर्क सूझ गया, "भाई सच्ची बात तो यह है कि आला अपने साथ नहीं है। बिना आलेके तो सारी डाक्टरी खत्म हो जाती है। मैं क्या करूँ ? छूँछे हाथ कर ही क्या सकता हूँ ?"

"सरकार, आप उसपर हाथ रख दें। नाड़ी भर देख लें। आपसे कुछ न छिपा रहेगा।"

मजबूरन उठना पड़ा। उसके साथ साथ गया।

गर्मीमें भी न सूखने वाले दुर्गन्धयुक्त नरदहों और बैलों, भैंसों, गोरूके गोबर मूत्रसे उठी हुई सड़ी बदबूके बीचसे निकला। फूससे लदे झोपड़े। बिना कपाटके कच्ची दीवालोंके द्वार। टेढ़े मेढ़े सँकरे रास्ते। मरणके अवगुण्ठनमें कराहती जिन्दगी पाने की अदम्य अभिलाषा। वही भारत माँ का फटा पुराना आँचल।

एक छप्परके नीचे झुक कर बुड्ढा दाखिल हुआ और बोला, "आया जाय सरकार।"

'सरकार' भी भीतर दाखिल हुए। ओसारेके बाद ही एक कोठरी थी। नीचा द्वार। भीतर अँधेरा ऐसा कि आधे मिनट तक आँखें सधानी पड़ीं। बुड्ढा बोला "उठती है रे! डागदर साहब आये हैं।"

झँलङा होगई खाट पर तनिक सी आहट हुई और कोई धीरेसे उतरा। गर्मी लग रही थी, इससे बाहर निकल कर उसे बाहर आनेको कहा। ओसारेमें बुड्ढेने दौड़कर एक खाट बिछा दी और उसपर एक काली, चीकट होगई, गंदी कथरी डाल दी और मुझसे अर्ज़ की, "बैठा जाय सरकार?"

सरकार खड़े रहे। बुढ़िया आकर भूमि पर बैठ गई। पीली हड्डिही जवानी की उपहास मूर्ति। साँस घर्र घर्र चल रही थी। हर साँसके साथ सिर ऊपर नीचे लाती थी। पके सन जैसे बालोंके झोंटे झूल रहे थे। बीचमें सिंदूर दिख रहा था। हाथोंमें काँचकी चूड़ियाँ भी थीं। लड़खड़ाते लहजेमें बोलने लगी, "ड म द र सा ह ब···"

बुढ़िया रुककर पेट पर हाथ मारकर कुछ संकेत करने लगी

और बूढ़ेने बात पूरी की, "साहब, इसके इसी पेट में सारी तकलीफ है।"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ। बुढ़िया बोली, "देखा···जाय पेट में···गोला है···"

बुड्ढे ने कहा, "सरकार, इसके पेटमें गोला है। हाथसे छूकर देखा जाय।"

बुढ़िया ने संकेत किया कि पेटको छूकर देखा जाय। उसने धोती का आँचल नीचे गिरा दिया था, पेटकी चमड़ी झूलती हुई अलग ही दिख रही थी।

मनमें एक कामना जागी—कोई तन्वांगी लंबग शरीरी षोडषी अपनी त्रिबली दिखाकर बुढ़िया वाला संकेत करती ऐसा योग यदि अपने भाग्यमें होता तो, हाथकी भाग्य रेखा कितनी प्रगाढ़ बनी होती। आश्चर्य हुआ अपने आप पर कि मृत्युके दर्शन करते समय भी जीवनके रसको पीते रहने की अदम्य अभिलाषा मनको कितनी मजबूतीसे पकड़े रहती है। बुढ़ियाको देखकर मनमें करुणा भी उपजी थी, क्लेश भी हुआ था। फिर भी यदि मैं उसका पुत्र होता तो क्या उसकी पुत्र-वधूके जीवन और सुहागको रसप्लावित न करता? सूखकर ठूँठ हुए पेड़के आस पास क्या नई घास, नये बिरवे नहीं उपजते! धन्य रे जीवनके क्रम और चक्र! यह जो चैतन्यका रथ है, इसे आगे बढ़ाये लिये जाने की परम्परा कितनी पुरानी है और है कितनी मोहक। गति, गति, गति! रस, रस, रस!! जीवन, यौवन और प्रेम!!!

मैंने उसका पेट नहीं ही देखा।

बुड्ढा बोला, "सरकार, नाड़ी धरी जाय।"

अभिनयके लिए कलाई पकड़ी। यह पता ही नहीं था कि नाड़ी कहाँ चलती है। धुकधुक पता ही नहीं चलती थी। यों ही कलाई पकड़े रहा। अपने इलाज को विश्वसनीय बनानेके लिए घड़ी घूरता रहा कि कि डाक्टर साहब वैद्योंकी तरह ऐसे ही नाड़ी नहीं पकड़ते, घड़ीसे मिलाते हैं।

कनखियोंसे छप्परमें लिपटे धुएँ और जालेको देखता रहा। मनमें होता रहा कि इस बुढ़ियाको क्या दवा बताई जाय। आज तक स्वयं भी बहुत कम दवा खाई है। पेटके रोगमें क्या परहेज होते हैं, क्या खाते हैं, यह नहीं मालुम। अपने लोक ज्ञानके अभाव पर मन ही मन पीड़ा भी हुई। एक मिनट बाद नाड़ी छोड़ दी। कहा "नाड़ी तो ठीक चल रही है। क्या खिलाते हो?"

इधर उधरकी फालतू बातोंसे विश्वास जमाना चाहा और गाय का मट्ठा पिलानेकी 'आज्ञा' देकर चलनेको हुआ। बुड्ढा बोला, "दवाई लिख दें हुजूर।"

मोर्चा लिया, "देखो, बिना आलेके पूरी जाँच नहीं हो पाती है। ऐसेमें क्या दवा दूँ। कुछ न ठीक पड़े और हानि कर जाय तो क्या होगा? फिर किसी दिन आला लेकर आऊँगा तो पूरी जाँच कर दवाई बता जाऊँगा।"

जल्दीसे ओसारेके बाहर आगया। सोचा कि छुट्टी मिली। पर बाहर अच्छी खासी भीड़ लग गई थी। मरीजोंको देख कर घबरा गया। पर फिर अपने आप ही वीरान जमीनमें सोता ढूँढ़ निकाला कि सोचा कि चलो यह भी सही। जिन्दगीका एक पक्ष देखा जाय,

यद्यपि अपने गाँवमें सबकी कुशल क्षेम पूछने पर मरीजोंके ही दर्शन होते थे। पर एक बार और सही।

"साहब, इसकी आँख आज बीस दिनोंसे उठी हुई है। रोरा भी हो गया है। आँख खोलती ही नहीं।" छाती पर बड़े बड़े बाल वाले करेटेने गोदमें की दो तीन वर्षकी बच्चीको दिखाते हुए कहा। डाक्टरोंकी तरह उसकी आँख नीचेको खींच कर देखनेकी कोशिश की। बच्ची चीखने लगी। आगे आँख देखनेका साहस न हुआ किन्तु डाक्टरोंकी निर्दयताका अभिनय करना था। बड़ी बेदर्दीसे आँखें खोलनेकी चेष्टा की। घुची घुची आँखें खुलती ही न थीं। बड़ी मुश्किलसे तनिक सी देख पाया। क्या समझ पाया ?

"गरम पानीसे आँख धोकर एक-एक बूँद कड़ुवा तेल छोड़ दो।"

दूसरे मरीजकी ओर घूमा। एक हाथमें तेलके साथ काला-काला कुछ पोत रखा था। टेढ़ा हो गया था हाथ।

"साहब, हाथ उखड़ गया है। आज चार महीने हो गये। कई जगह दौड़ा धूपा पर कुछ फायदा न हुआ।

पीछेसे किसीने सिफारिश की, "साहब, इसकी औरत आनेको थी। नहीं आ रही है इसी डरसे। अच्छा कर दीजिए, सरकार, नहीं तो उसट्ट हो जायगा। औरत किसी और पर चली जायगी।"

कुँआरा डाक्टर स्त्रीविहीनोंकी व्यथा समझता है।

आँखोंके सामने गुलबिया चुनरिया फहराने लगी कि गौना करा कर लिये चला आ रहा है पट्ठा—साँवरा।

सिफारिश काम कर गई। हृदयमें सहानुभूतिके बादल उमड़े।

पर कहाँ बरसें ये बेपानीके बदरवा ? कहा, "शहरके सदर अस्पताल चले जाओ। मेरा नाम लेकर कहना तो हाथ पर प्लास्टर कर देंगे।"

"हजूर, दो महीने तक पलस्तर बँधा रहा। पर खोलने पर हाथ अच्छा नहीं हुआ। कम्पोटर साहब कहते थे कि सौ रुपये दो तो हाथ बिलकुल ठीक कर दूँ।"

"तो, रुपयेका इंतजाम किया ?"

सिफारिशी स्वर—"साहब, सौ रुपये होते तो उस कानी और दो बच्चोंकी महतारी हुई औरतके पीछे यह रहता ! सौ रुपयेमें नई औरत न ले आता—कुँआर करिना !"

फिरसे ध्यानसे देखा। सोलह सत्रह सालका छोकरा। अभी पूरी तरहसे रेख नहीं फूटी। आँखोंके नशेमें गुलाबीपनकी लेशमात्र झलक नहीं फिर मनमें कहाँ वह हिंस्र पशु बसा हुआ है जो काली, अंगहीना, लतड़ी औरतके केवल औरतपने पर बँधा खिंचा चला जा रहा है ? कौन सा है वह आकर्षण जो पौरुषको धिक्कारता नहीं जूठन चाहनेको विवश करता है ?—जाने दो।

"अच्छा, फिर बताऊँगा।"

दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

गढ़ोंमें दो निस्तेज आँखें। चेहरे पर दाढ़ी मूँछ उगी नहीं। बुढ़ापेमें कदम दिये हुए पाँचेक साल हुए होंगे—उम्र लगभग तीस साल। ढँसहा स्वर—"साहब, घरमें, पेट में पानी बढ़ गया है। देखा जाय।"

घर पीछे खड़ा था, काली धोतीमें। पीला सूजा हुआ चेहरा, फैल कर लदमेसर हुआ शरीर।

पूछा, "तुम्हें कैसे पता कि पानी बढ़ गया है ?"

"सरकार, यह दो सालसे खपड़ा खाती रही है। नई-नई हाँड़ी गगरी कोंहारके हिंयाँसे मँगाकर फोड़ फोड़ कर खा जाती है। इसे बहुत समझाया कि सोंधी चीज खानेकी तबियत हो तो भूजा भरी है, चना चबेना है, सत्तू है। पर यह माने तब तो। माटी खायके शरीर बिलवाय लिया है। कौन समझाये ? किसीके कहनेमें नहीं, मनमानी करती है।"

"खपड़ा ईंटा मत खाया कर और फल तरकारी अधिक खा, तो पेट साफ हो जायगा।

अधमरे हो रहे बच्चेको लिये एक चमाइन सबसे अलग खड़ी थी। बच्चा अपना सिर गरदनमें दबाये ले रहा था। आँखें बन्द किये था। साफ लगता था कि इसके शरीरमें दम नहीं है। इन सबको यदि दवा दी भी जाय तो वह कै जून खींचेगी ? शरीरको जिन चीजोंकी आवश्यकता है, वह कैसे प्राप्त हो ? हाड़ तोड़ मेहनत कर धरतीसे अन्न उपजाती है यही जाति चमार की। हलकी मूठकी मालिक, अषाढ़के कीचड़से भरे खेतमें पैरोंमें शीशा काँटा चुभा लेने वाली, धरती-पुत्रोंकी यह जाति जीवन भर खानेको पाती ही क्या है ? आमकी गुठली, बनके कंद, बैलोंके गोबरसे निकाला हुआ गेहूँ, पेड़ोंकी छाल, जंगली अखाद्य फल, तालाबोंकी घासें सभी कुछ तो ये भक्ष करते हैं। साल के जाने कितने महीने आधे पेट खाकर ये गुजारते हैं। ऐसी जातिके बच्चे यदि अस्वस्थ हों, घृणित शक्ल व सूरत वाले हों तो आश्चर्य ही क्या !

स्वयं ही अपनेको सबसे हीन समझने वालोंके ऊपर मनमें

करुणा आई। इससे आगे बढ़ कर पूछ लिया, "बोल, तुझे क्या हुआ है ?"

"गोसँइयाँ, यह लरिका है। इसका कपार पिराता है। रात दिन धींकता है। बोखारसे देही तपती है। पेटमें कुछ नहीं पचता। पतली टट्टी होइके सब कुछ पेटसे बहिरे होइ जाता है।"

डाबर या वैद्यनाथका पंचांग होता तो ढूँढ़ कर अभी कोई दवाई निकालता और इसे दे देता। पर यहाँ कोई घास-पात ही बता पाना उत्तम होता। लेकिन वह भी तो नहीं जानता। डाक्टर या वैद्य न होने की स्थिति आज मनको क्लेश दे गई। यह क्लेश सदैव तप्त करेगा, जब-जब ऐसे मौके आयेंगे कि किसीके लिए कुछ करना चाह कर भी न कर पाऊँगा।

दवा बतानेके बदले मैं एक सर्वथा असम्बद्ध प्रश्न कर बैठा, "इसका बाप कहाँ है ?"

"आज साल भरसे खटिया धरे हैं। परके साल जेठमें गिरे हैं तबसे साँस नाहीं भई ?"

पार्श्व स्वर—"डाक्टर साहब, किरपा हो जाय उसकी ओर भी। आपके पुण्य प्रतापसे अच्छा होइ जायगा तो जिनिगी भर जस ढोयेगा।"

डाक्टर साहबको यशका टोकरा ढुबानेकी उतनी चिंता नहीं थी जितनी उस अपरिचित रोगीके लिये अपनी कृपाका दान-कोष प्रस्तुत करने की। कहा, "चल।"

घरोंकी बनावट और रास्तेसे ही जान लिया कि चमर-टोलेमें आ गया हूँ। घरोंके अगवारे-पिछवारेकी सड़ायँध और छोटे-छोटे ढाबे

सूअरोंको बन्द करनेके लिए बने हुए—अपना परिचय स्वयं दे रहे थे। काले-काले, बड़े-बड़े पेट तमाशेकी शक्ल-सूरत वाले बच्चोंके लिए मैं और मेरे पीछे आने वाली भीड़ भयोत्पादक थी। एक दस वर्षीय बच्चीकी धोतीमें उसका छोटा भाई लिपट गया और चेहरा छिपा लिया। कौतुकके लिए मैंने पूछा, "यह क्या करता है रे ?"

लड़की चरफर थी, बोली, "आपको डेरता है। इसीसे लुकाय गया है।"

हँस कर आगे बढ़ा।

अपने घरके सामने रुक कर मेरी अभ्यागता बोली, "सरकार, यहीं।"

बाँसका फटका लगा था। रस्सीसे बाँध गई थी। खोल लिया। घरमें चली गई। मैं भी पीछे-पीछे बढ़ा। दो-तीन आवाजोंने कहा, "आप रुकें साहब!"

मैंने रुक कर सबको देखा, "क्यों ?"

"अरे साहब, आप उस गंदेके घरमें जायेंगे ? मलिच्छ चमार। निकल कर नहानेका झंझट पड़ेगा।"

मेरा गाँव इस मामलेमें कुछ अच्छा है। चमारोंका इतना निष्कासन नहीं हुआ है। मेरा स्वभाव उनसे भाईचारा निभानेका पड़ चुका है। घरमें चला गया।

जमीन पर दुबला-पतला नर-कंकाल पड़ा था। दाढ़ी बड़ी-बड़ी थी, पर उम्र बाइस-तेइससे अधिककी नहीं लगने देती थी। वह धीरे-धीरे उठ कर उँकड़ू बैठ गया। हाथ जोड़ कर बिना कुछ

बोले अभिवादन किया। सम्भवतः संकोचमें पड़ा कि पैलगी करे या जयरमी।

स्त्रीने उसके रोगका इतिहास बताना शुरू किया। मेरे लिए कोई नई बात नहीं। अपनी इन्हीं आँखोंके जीवनमें अपने गाँवके चमर टोलेके दस-ग्यारह नौजवानोंका जीवन-मरणके चक्रसे मुक्ति पाना देख चुका हूँ। बूढ़े माँ-बाप बैठेके बैठे रहे और बेटे चलते बने। रामअवध, घिसियावन, अधारे, समुझ, परदेसिया सभी तो चल दिये। मनमें हूक-सी उठती है। गाँवके छोरकी बगियामें मुआ चिरैया 'मुअब-मुअब' करती है। किसी घरके पिछवारे बिल्ली रोती है और दूर सिवानमें कुत्ता रोता है। अँधियारी, निपट, अन्हियरिया। सारा गाँव सूनसानमें लिपटा पड़ा। और सुबह सारे गाँवमें शोर कि फेरई जाता रहा। मुनेसर चल दिये। जैसरन गुजर गये। कहीं रँड़ापा कहीं निपूती, कहीं बिना छाँहके बच्चे।

अब भी महोखा पक्षी 'पूत पूत' चिल्लाता है। चिड़ियाँ अपने बच्चोंको पानी पिलाती हैं। चारा खिलाती हैं। और अनाथिनी समुझबहू, अधारेबहू, घिसियावनबहू बिसूरती हैं। बिसूरती क्या हैं, सरापती हैं—"दाढ़ी जार, खुद तो चला गया। हमका निबहुरे की कुलियामें डाल गया।"

चमारके रोगका इतिहास नहीं सुना। वही पुरानी बातें कि इस दवाने फायदा नहीं किया, डाक्टरने कहा कि सुई लगवाओ और अंगूरकी चीनी खिलाओ। कहाँसे आयें पैसे, कैसे आये दवाई। खुदको अँटता नहीं कि पेट भर रोटी मिल जाय। दिन भर कड़ी धूपमें ईंटा गारा ढोया तो दस आने मिले, बखरिया कोहा

कटाया तो चार आने और दुपहरिया मिला, फलाने बाबूके घर जाकर कंडा धराय दिया तो दाना मिल गया इसीसे गुजर हो रही है।

गाँवकी हर चमाइन सहायाके लिए आँचल फैलाती है।

"हे भइया, लूगा नाहीं है।"

"नन्हें बाबू किरपा होइ जाय। आज शामके लिए भुराकी नाहीं है।"

"हे बाबू, छः पैसे नमकके लिए, उधार···"

"चार पैसेकी तमाकू···"

चमारके रोगका इतिहास सुन कर करे भी क्या। पता है कि इन्हें खानेको नहीं मिलता है। बीमारी नहीं होती है बल्कि भुखमरी होती है। क्या किया जाय ?

सहानुभूतिका प्रदर्शन करने आया था। उसका अवसर अभी नहीं आया है। पूरी कहानी जब कह चुकेगी तब कह दूँगा। कहानी जब समाप्त होगी तो पता चल ही जायगी। वह चुप हो जायगी या स्वयं ही बीचमें उकता कर, बात काट कर, कुछ पूछना शुरू कर दूँगा तो बात खत्म हो जायगी ही।

समय बितानेके लिए रोगीको ही घूरता रहा। कुछ दम नहीं। कैसे बयान किया जाय ! जैसे सब रोगी होते हैं। वैसा ही रोगी। मतलब कि—

● चार डाक्टर सामने बैठे हैं। दो नर्सें अलग खड़ी हैं। नगरके मिलने जुलने वालोंमेंसे आठ दस घेरे हुए हैं। रोगीने अभी अभी हाथका उपन्यास सिरहाने रखा है।

● अस्पतालकी लाल चादर ओढ़े है। पत्नी घरसे बच्चोंको खिला पिला कर स्कूल भेज कर आई है। रोगी मर्मकी बात बताता है। फिर पत्नीको चिन्ता होती है कि कोई घरका ताला तोड़ कर दिन-दहाड़े ही लूट न ले जाय।

● जाड़ेकी सर्द हवा और सुनसान हो गई सड़कका किनारा। फटे चिथड़ों वाली कथरी ओढ़े पड़ा रोगी। बार-बार दाँसना। गश्तके सिपाहीकी सीटीकी आवाज और यमदूतोंका आना।···सुबह एक लावारिस लाशका ठेले पर लद कर जाना।

रोगीकी पत्नी यानी रोगी बच्चेकी माँका वृत्तांत समाप्त हुआ तो अकस्मात् उस पर दृष्टि गई। आश्चर्य! अभी तक ध्यान ही नहीं दिया था। इस विपत्तिमें भी उसका स्वास्थ्य और दैहिक सौन्दर्य प्रशंसनीय था। पिपासा जगाता था।

मन ही मन उसकी राशिको प्रणाम किया।

पति और बच्चेकी मृत्युके पश्चात् वह किस पर बैठेगी, कैसे बैठेगी—इसका निर्णय उसकी इच्छा न कर पायेगी। सौन्दर्य लोलुपताकी भिन्न शक्तियोंका सापेक्ष अस्तित्व ही निर्धारित करेगा कि कौन इस देहीको चाटता है?

वहाँसे उठा और बाहर आया। स्त्रीसे कहा, "एक दिन आला लेकर आऊँगा तो तुम्हारे बच्चे और आदमी दोनोंको देखूँगा।"

स्त्रीने विश्वास किया। विश्वास करनेकी बात ही थी। उसके सौन्दर्यने आज तक पुरुषको उदार, सेवा तत्पर, निरीह और विश्वसनीय ही जाना होगा। कुछ दिनों बाद जब यह डाक्टर नहीं

आयेगा और इसकी प्रतीक्षाको ठेस पहुँचेगी तो इसकी अनुभवकी परम्परा टूटेगी।

वहाँसे अन्य सभी रोगियोंको यही कह कर विदा किया कि जब आला लेकर आऊँगा तो जाँच करूँगा।

सात बज रहा था। अँधेरा घिरना शुरू हो गया था। पाँड़े जी का आग्रह था कि रात वहीं गुजारूँ। पर उनसे ऊब गया था। इससे कहा कि मामीके यहाँ जाना अत्यावश्यक है। पासमें ही गाँव है। नाम बताया।

सोचा था कि यहाँसे छुट्टी मिले तो उड़ूँ। मील भर और चल लूँ फिर रुकने टिकनेकी सोची जाय। मामीका घर था अवश्य ही पास हीके गाँवमें किंतु वहाँ रुकना नहीं चाहता था। पर फँस गया, यों कि पाँड़े जीने जब जान लिया कि मैं जाऊँगा ही तो वे बोले कि वहाँ तो मुझे भी गाँवमें ही काम है। चलिए आपको पहुँचा दूँ।

बचनेकी राह न थी। चुपचाप माथा टेक दियाकि आजकी रात मामीके गाँवके ही मरीज देखे जायँ।

●●

१३

# वंध्या धरती

कुछ घर, कुछ गाँव ऐसे होते हैं जहाँ चुहल रहती है और कुछ घरोंमें एक किस्मका सन्नाटा हमेशा छाया रहता है। विशेष कर शामके धुँधलकेमें तो ऐसे घर जैसे काट खानेको दौड़ते हैं।

इस दूरकी ननिहालमें पहली बार जा रहा था। बड़ी मामीका जाने कितने दिनोंका हार्दिक आग्रह था कि मैं अवश्य अवश्य आऊँ। मामी अपने मुकदमे के सिलसिलेमें तहसीलमें, या इलाजके लिए सदर अस्पताल जाती हुई मेरे गाँवमें ही मिलती रही हैं। जाने कितनी बार वायदे किये कि बस मामी इस बार माफ कर दो, अगली छुट्टी तुम्हारे यहाँ ही बीतेगी। या, मामी तुम आगे आगे चलो, मैं छः सात दिनोंमें ही आया जाता हूँ। और वायदे ईमानदारीसे किये गये थे, पर ये पूरे न हो पाये, यह भी एक ईमानदारीकी ही बात है।

शामके घिर आये धुआँठे अँधियारेमें एक अजीब सन्नाटा उस गाँवमें प्रवेश करने पर मिला। कहीं भी, किसी भी पेड़के नीचे जानेपर ऊपर बसेरे लिए चिरई चिरंगुनका परिवार वालोंके साथ बैठ कर चेंव चेंव करना न सुना। किसी भी गली, कुलियामें कोई कुतिया तक भूँक कर मुझ अजनबी का स्वागत करने न आई। जाने कैसा गाँव है राम, कि कोई गाय बछिया तक नहीं रँभाती। किसी भैंसको अपने पाँड़े तककी याद नहीं आती। शाम के समय बाहर बगियामें ही खेलते रह गये अपने किसी बच्चेको कोई माँ बुलाती भी नहीं, "हो ऽऽ भइया ऽऽ ओ ऽऽ रे ए़ऽऽ···"

किसी घरके सामने सँझलौकेके खेलोंकी रंगीनी नहीं दिखती—

**"ओका बोका, तीन तिलोका, लइया लाठी, चन्नन काठी, चनना मँ काव काव, अमुनी कि जमुनी कि दक्क···"**

**"सावन मास करइली फूलय, बन झूलय बन झुलिया झूलय। छपर छपर बाँस कटय नदी घहराय, कँवला क फूल तरय तर जाय— कँवला क फूल तरय तर जाय···"**

पाँड़ेको घर पता था, मुझे बता कर अपने कामसे लगे।

मैं चुप चाप घरके सामने खड़ा होकर असमंजसमें पड़ गया कि इस मनहूस गाँवमें रात काटना ठीक है या नहीं। पर बादमें व्यावहारिक बुद्धिसे सोचा कि यदि अब उड़ भी जाता हूँ तो इस मनहूस गाँवका सिवान, जहाँ कि मुझे रात काटनी पड़ेगी, भी मनहूस ही होगा और कल, या आजही यदि पाँड़ेने आकर मामी को मेरे आने की सूचना दे दी तो उन्हें अत्यन्त क्लेश पहुँचेगा जिसके उत्तरदायित्व का भार मुझसे न सँभाला जायगा।

तभी भीतरसे कुप्पी की रोशनी झलकी। रोशनीके साथ साथ काली काली, हिलती हुई बड़ी सी परछाईं आई। परछाईंके हाथमें गगरे की परछाईं।

पर आकर मामी ठिठकीं। जाने कौन बाहर खड़ा है?

मनहूस मौनका भार न उठाया गया। बोला, "मामी!"

वे भीतर चली गईं। छोटी वाली रही होंगी जो मुझे नहीं चीन्हतीं। आधे मिनट बाद हाथमें तेलकी ढिबरी लिये बड़ी मामी निकलीं। मैंने परम्परा निभाई—"पालागी मामी!"

"जीओ भइया, अनंदसे रहो।" अस्फुट शब्द, मुँहमें खींच कर दिये गये आँचलके खूँटसे बँध कर निकले। मेरे घर की स्त्रियाँ कहती हैं कि मामीमें इस बड़ी उमिरमें भी बड़ी लज्जा शरम है। परदेका बड़ा ध्यान है। वे बाहर आ गईं। ओसारेके ताकमें ढिबरी रख कर वे वहीं खड़ी चारपाई उठाने चलीं।

मैं लपक लिया। कहा, "ना मामी, तुम नहीं। मैं रखे लेता हूँ।"

"हाय राम! भानजेसे काम करवाऊँगी! कलसे ये हाथ झूलने लग जायँगे पापके भारसे...तब?"

कुछ औपचारिक कहा सुनीके बाद दोनों जने मिलकर चारपाई बाहर निकाल लाये। चारपाई बिछाकर वे भीतर दरी लाने चली गईं। मैंने झोला छाता ओसारेमें खूँटी तलाश कर टाँग दिया।

सब काम नियमसे होते रहे—दरी बिछी, चादर बिछा, तकिया रखा गया जिसके भीतर खूब कड़ी-कड़ी कोई चीज भरी थी। गिलाफ पर देशी ग्रामीण तरीकेसे फूल काढ़ा गया था। एक पंखा

भी आया, बाँसकी पोंगी और छींटके फूलों और मोतियोंकी झालर वाला सींक का। गगरा भरकर रखा गया। फिर लोटा गिलास आया। एक थाली आई पीतलकी।

पर इस बीच मेरे सामने वही सन्नाटा चक्कर काटता रहा। सामनेके घरकी दीवाल पर मेरी बहुत बड़ी परछाईं पड़ रही थी। उसे देखकर बड़ा भयसा मालूम होता रहा। चुपचाप बैठना था।

कहा है कि यदि घरमें बच्चे न हों और द्वार पर बैल और मर्द न हों तो सब कुछ सूना रहता है। आज इसकी सचाई जानी। स्त्रियोंकी भाषामें कहूँ कि तीन-तीन राँड़ोंका रँड़ापा उस घरको खाये हुए था। घरमें एक राँड़का होना सन्नाटा ला देता है; तो फिर जिस घरमें राँड़ोंको छोड़कर और कोई न हो, उसका क्या कहा जाय!

बड़ी मामीके एक लड़का है। पिछले साल उसे किसी होटलमें लगवा दिया था, रोटी सेंकता है। घर पर खेतीका काम निबटा जाता है किसी तरह। लड़का चार पैसे भेजता है तो ऊपरके खर्चे निकलते हैं।

बाकी घरमें तीनों विधवाओंको छोड़कर और कोई नहीं है।

बड़ी मामी सौ रुपयेमें आई थीं और दोनों पाँच-पाँच सौकी। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं है कि बड़ीकी अपेक्षा वे पाँचगुनी अधिक सुन्दरी हों। मामा चार भाई थे। बड़ेकी जिन्दगी घटवाही मेंही बीत गई। शादीको कोई पूछने ही नहीं आता था। घरकी जगह जमीन तो, खैर, जैसी है, है ही। लेकिन कोई-कोई गाँव ही ऐसे निकल जाते हैं कि कोई वर-देखा फेरा करने आता ही

नहीं। और जब एक बार बात चल जाती है तो फिर नाम निकल जाता है। तब रँडुओं और कुँआरोंके देस गाँवमें कौन आये! कौन अपनी बहिन बिटिया डाल जाय कि सारी जिन्दिगी लोग घूर-घूरकर धरम आबरू मिटानेके लिए तैयार बैठे रहें।

फिर बड़े मामा जिन्दगी भर भैंस गोरू ही चराते रहे। भैंस गोरूके नाम पर एक भैंस थी और एक बछिया और पँड़िया। उन्हींको लेकर सिवान सिवान, बगिया परती घूमते रहते। शुरूमें यह सब किया एक चस्केमें कि एक अहिरिनिकी छोकरी थी। उसीके साथके लिए यह सब करते थे। पर बादमें वह तो गई अपना घर सँभालने गौनेकी राह। और इनको पड़ गई आदत। गोरू चराने एक वही छोकरी तो आती नहीं थी। शकरखोरेको शकर मिलही जाती है। तो उनकी जिन्दगी तो कुँआरपनमेंही कट गई। उनसे छोटे जो थे, वे बचपनमेंहीं भाग गये थे कलकत्ता। वहाँसे कमा-धमाकर लौटे तो वहाँके कालीघाटके रंडीपाड़ेकी याद आई। तब खर्चे पूरे सौ रुपये और एक दरिद्र ब्राह्मणकी कन्याका उद्धार कर लाए। बाँभन बेचारा फँसा था एक मुकदमेमें। रुपयेकी थी जरूरत। जवान लड़का घर बैठे मिल गया। फिर शहरसे कमाकर लौटा हुआ। सौ रुपयेमें बात किसीने ठीक करा दी। नब्बे अपने पास आये, दस उसने लिये।

और यह सब किस्सा मैंने सुना था अपने हलवाहेसे जिसने यह कहाँसे सुना, यह मैंने पूछा नहीं।

रंडीबाज तो फिर रंडीबाज। एक बार जैसी आदत पड़ जाय। सो स्त्री तो घरमें रही खाना बनाने कूटने पीसनेको। और इन्होंने

टोह निकाला कहीं किसी और को। कुछ दिन तो चली आसनाई। फिर गाँव जवारके हँसनेके डरसे अपने छोटे भाईके लिए बात चलाई। लड़कीके बापने देखा कि गरजू आदमी है। पाँच सौ माँगे। टसमे मस न हुआ। इन्होंने दिये। और इस तरह आईं मझली मामी।

छोटे मामा बर्मा निकल गये थे। वहाँ किसी बर्मिनसे शादी कर ली थी। लेकिन तीन चार सालमें ही गाँव जवारका मोह जोर मार कर उन्हें घर खींच लाया। कह कर आये कि पन्द्रह दिनोंमें लौटता हूँ। पर यहाँ साल भर रह कर रुपयेकी गर्मीमें बड़े भाईकी ईर्ष्यामें पाँच सौ खर्च आये। छोटी मामीका परछन हुआ।

मँझले मामाने एक तो ऐसी पत्नी पाई थी कि जो हर समय जेठजीकी सेवामें रहे। प्यास लगे, कुछ सामान देना हो, कुछ पूछना हो तो जिठानीके बदले वही दौड़े। दूसरे, बड़े भाईकी चलाई परम्पराको निभाना था। तीसरे, ये कहीं परदेस तो गये नहीं थे, इससे मनमें दुखी थे। खैर बड़े भाई तो बड़े ही थे, इनके ऊपर खर्चा भी करते थे, इससे उन्हें भगवान् रामकी तरह मानते थे। पर जब छोटा भी परदेससे कमाकर लौटा और अपने पैसेसे औरत ब्याह लाया तो ये ईर्ष्यामें सुलग उठे। बदला लिया यों कि किसी न किसी बहाने उस बर्मिनका किस्सा छेड़-छाड़ इन्होंने अनुज वधूको वशमें किया। और तबसे तीनों सती स्त्रियाँ धर्म मार्ग पर चलती हुई कुल कीर्तिकी पताका फहराती रहीं।

मामा लोग एक एक कर कैसे गुजर गये, बीचके दो मामा अपनी अपनी स्त्रियोंको लेकर बर्मा गये और फिर लड़ाईके जमानेमें

किस तरह भाग कर आये और वहाँ बनवाई अपनी सोनेकी सिल न ला पाये, यह सब लम्बा किस्सा है।

बड़ी मामीने थालीमें पानी उँड़ेला और भीतरसे छोटी मामी—अनुमानसे जाना—आईं। थालीका पानी लेकर सामने बैठीं। बड़ा संकोच लगा। कहा, "ना मामी, अपने आप धोऊँगा।"

"अरे भइया! हमारे रहते!"

मैं उठकर खड़ा हो गया। बड़ी मामीने आकर बिठाया। मैंने कहा, "देखो मामी छोटा बच्चा तो हूँ नहीं। अब सयाना हूँ, बुरा लगता है कि आप सबसे पैर छुवाऊँ।"

दोनों एक साथ बोलीं, "तुम हमारे ब्राह्मण हो—मान्य। तुम्हारा पैर धो धोकर हम तर जायँगी। भला ऐसा कैसे न होगा।"

चुप लगा गया।

छोटी मामीका आधा चेहरा ही ढिबरीकी रोशनीसे प्रकाशित था। आधेको मेरी परछाईंने छा रखा था। छोटी डीलकी अच्छी कसी काठीकी स्त्री हैं। रंग गोरा, छोटा मुँह। मँझली मामीके एक दो बच्चे हुए थे, जाते रहे। इसी ज्ञानसे पहिचाना था कि ये छोटी मामी होंगी। कसा बदन। आँचलके प्रति सचेत सचिंत्य।

दाहिने पैरका पंजा पकड़ कर थालीमें रखा मामीने। फूआकी बहू हैं, चार बच्चोंकी माँ। वे भी मेरा पैर धोती रही हैं। वे पिंडली से पकड़ कर पैरको थालीमें रखती हैं। और वहींसे धोना भी शुरू कर देती हैं। मामीने पंजेको ही धीरे-धीरे धोना शुरू किया। समझा, पक्का किया कि ये छोटी मामी ही हैं, मँझली नहीं। मँझलीके एक-दो बच्चे हुए थे।

पैर धुलानेसे आराम न मिला। अधिक चलनेसे, जूतेमें बंद रहनेसे पंजे पर कई जगह दबाव पड़ा था। वहाँ वहाँ दर्द होने लगा। कमसेकम पन्द्रह मिनट तक पैर धोया गया। बादमें पिंडली तक।

पैर धुलाते धुलाते अचानक ध्यान आया। कहा, "मामी, तुम्हें पैलगी करना बिसर गया।"

"राम सुखसे रखें भइया। ब्याह हो, शादी हो, बच्चे हों।"

मामीकी दृष्टि सदैव नीचेको ही झुकी रहती है। ओंठ पतले पतले हैं। विदेशी ऐक्ट्रेस ग्रेस केलीके ओठों जैसे। ग्रेसका प्रेमका अभिनय भूलता नहीं है। सामनेके घरकी दीवाल पर मेरी परछाईं अब भी पड़ रही थी। पर पहिले वह अकेली थी। अब मामीकी आधी परछाईं मिल कर दोनों परछाइयाँ एक होकर दिखती हैं। जैसे छायाचित्र ( सिलहुट ) शैलीमें कुछ तसवीरें बनी होती हैं कि पुरुष खड़ा है और प्रेयसी पैर पकड़कर बैठी है। उसीका विकृत रूप लगी वह सम्मिलित परछाईं। मनमें संकोच सा लगा।

बड़ी मामी किसी ओरसे आईं। बोलीं, "सारे गाँवमें ढूँढ़ आई। कहीं किसीके यहाँ बूँद भर दही माठा नहीं है। गोरसाका ऐसा काल, राम!"

अर्थ निकाला कि यदि रस ही मिले—सिखरन (लस्सी) नहीं तो भानजे रामको समझ लेना चाहिए कि परिश्रम पूरा किया गया था, पर सारे गाँवमें कहीं भी गोरस नहीं मिला।

छोटी मामीकी टिप्पणी—"सब ओर तो गोरू भैंस बिसुक

रही हैं। सावन भादौं तक बिआयँगी तब कहीं दूध दहीके दरसन होयँगे।"

चित्र बना : गाय अपने बच्चेके साथ खड़ी है। ब से बछड़ा।

छोटी मामीके कोई बच्चा नहीं हुआ।

फिर अपने ही ऊपर हँसी आई कि पता नहीं यह चित्र कितना गलत है। हर समय हर चीजको अपने पैमानोंसे मापते फिरना ठीक नहीं होता है। ऐसेमें शायद सचाईसे सान्निध्य संदिग्ध हो जाता है। पैर धोकर उठ गईं। बोलीं, "कुल्ला कर लो, रस पी लो। जी जुड़ाय तो फिर आराम कर लो। भोजन पीछे होगा।"

बड़ी मामी रस लाईं। लोटेमें पानी दिया। मुँह हाथ धोकर पिया। दो गिलास अपनी तबियतसे, डेढ़ मामीकी जबर्दस्ती। छोटी उठकर चलीं। बड़ी बोलीं, "कचूरे वालीसे कह दो, मिर्चा सँभाल कर छोड़ेंगी। हमारे बच्चे मिर्चा नहीं खाते।"

मामीका सदाकी तरह 'हमारे बच्चे' कहना प्रिय लगा। समझा कि मँझली चौकेमें हैं। इसके बाद मामीका शिकायत करनेका, उलाहने देनेका कार्य प्रारम्भ हुआ। पंखा हाँकती जायँ और कहती जायँ।

बीचमें छोटी मामीने आकर पंखा ले लिया। भूख जोरकी लगी थी। थकान भी। दोनोंके सम्मिलित आक्रमणसे सो गया। हाँ, मामीकी बातोंका बीचमें 'हूँ' 'हाँ' कह देता था।

जब खाने उठातो नींदसे पलकें भारी हो रही थीं। पर दो चार

कौर खाने पर चैतन्य हो आया। देखा, चौकेमें मँझली मामी थीं। जैसी शक्लकी कल्पनाकी थी, वैसी ही थीं।

पंखा अब भी हाँका जा रहा था। अच्छा ही लगा, गर्मीके दिन ठहरे। अनुगृहीत हुआ। इससे कहा, "रहने दो मामी, पंखे की क्या जरूरत है!"

कहनेके साथ-साथ घूम कर देखा।

सनाका हुआ। मामी पंखा नहीं हाँक रही थीं। कोई लड़की थी—बाइस तेइस सालकी। लड़कीसे मतलब है कि बहू नहीं थीं। एक ही उम्रकी दो स्त्रियोंके पहिनावे ओढ़ावे, चाल ढाल, बोल व्यवहार बैठने उठनेके ढंगसे ही जाना जा सकता है कि कौन अपनी ससुरालमें है और कौन मायकेमें।

मामी सामने बैठी थीं। बोलीं, "तुम्हारी बहिन है।"

बहिन? तो मामीके कोई लड़की भी है? आज तक न जाना। पूछनेके लिए पूछा, "ये कब आईं?"

"आज साल भरसे यहीं हैं।"

"कब विदा होंगी?"

"अब जानेको तैयार नहीं है। कहती है कि अब नहीं जाऊँगी। लड़-झगड़ कर आई है।"

अब देखा उस लड़कीको। वह जैसे हम लोगोंकी बातें सुन ही नहीं रही थी। किसी लाज संकोचसे नहीं। बल्कि उसे जैसे कोई रस ही न मिल रहा हो। समझा कि उसे क्लेश है। बाबा बन कर कहा, "लड़ना झगड़ना नहीं चाहिए। जिन लोगोंके साथ जिन्दगी काटनी है, उनसे मिल कर, दब कर ही रहना उचित है।"

"उनके साथ जिन्दगी नहीं काटनी है।" उसने झटकेमें कहा। उसके कहनेमें कोई ग्लानि, खेद या कुंठित कामना नहीं थी। सीधी सी बात थी।

आश्चर्य हुआ। पर उसे समझानेको कहा, "ऐसा कहीं कहते हैं! वे लोग तुम्हारे ही घरके हैं।"

"हमारे लेखे सब मर चुके हैं। जो बचे हैं, वे जायँ निबहुरे की कुलिया। भस्म होयँ!" भवानी प्रगट हो गई।

मामी बोलीं, "अब देखा भइया, इसका बोलनेका ढंग? इसी करनी पर तो ससुर घरे कोई सोहाता नहीं। बोलती है कि बीछी आँड़ा मारती है!"

"हाँ, हाँ, मैं बीछी तो हूँ ही। सबको खाय डारूंगी।" झन्नाटे से पंखा फेंक वह चल दी!

मामीने आकर पंखा लिया। बोलीं, "यह तो इसका बोल बेवहार है। कैसे कोई रखे! अपना धन है, इससे झूठ बोलूँ, यह ना होगा। सारा कसूर इसीका है। नहीं तो आदमी तो इसे हीरा मिला था। अब कोई क्या कहे?"

"कहाँ व्याही है?"

"'.....' गाँवमें। '.....' के घर।"

इन गाँव जवारकी लड़कियों स्त्रियोंको कोई बात समझानेमें मुझे सफलता मिल जायगी—पता नहीं कैसे इस बातका विश्वास हो गया है। कहा, "मामी, मैं समझा दूँगा। न होगा तो जाकर पहुँचा आऊँगा। वहाँ वालोंको भी समझा दूँगा। शायद आगेसे ठीकसे रहें।"

"भइया, तीन-तीन बार उसे पहुँचा कर आये। हर बार भाग-भाग आती है। समझा बुझाकर, डाँट डपटकर भेजते हैं। वहाँ जाकर लड़ती-झगड़ती है, आग बोती है और फिर भाग आती है। ऐसेका क्या इलाज ?"

दो चार मिनट की चुप्पी रही। सोचता रहा कि कर्कशाके व्यवहारका इलाज ही क्या !

मँझली मामी भीतरसे बोलीं, "वे तो रोटी कपड़े पर तैयार हो गये थे। छः महीने तक दिया भी। पर बादमें नोराने ही कपार पाथर करके सब बंद करवा दिया। नहीं तो क्या दुख था ? रोटी कपड़ा मिला जा रहा था। सुखसे फूआके यहाँ थीं पर 'धनि धनि रे पुरुष तोर भाग, करकसा नारि मिलीं।"

जाना कि नाम नोरा है। पूछा, "कैसा रोटी कपड़ा !"

"भइया इसी गाँवमें फूआ भी ब्याही हैं। जब इन्होंने आफत कर दी और वे इन्हें घरसे निकालने लगे तो पाँच पंचोंने तय कर दिया कि ये फूआके यहाँ रहें। रोटी कपड़ा मिला जायगा। वे तो राजी हो गये, पर हाय रे भाग्य !"

नोरा कहींसे आगई थी। चमक कर बोली, "हाँ, हाँ, मैं तो अभागी हूँ ही। वही सुभागे हैं। रोटी लूगा देने चले थे ! रोटी लूगा ही लेना होगा तो यह नैहर कहीं चला गया है ? यहीं पड़ी रहूँगी पर वहाँ ना जाऊँगी, ना जाऊँगी, कहे देती हूँ।"

वह फिर बाहर चली गई। मेरे मनमें अचानक एक तर्क सूझा। अभागा नारीत्व, भूखा मातृत्व जाने किन रूपोंमें विकृत हो, प्रकट हो सकता है। पूछा, "शादी इसकी कब हुई थी ?"

"आज बारह साल होते होंगे।"

"कोई बच्चा ?"

"एक लड़का हुआ था। दस बारह दिनोंमें ही जाता रहा।"

यह बात भी नहीं। फिर पूछा, "कब हुआ था ?"

"सात आठ सालसे ऊपर हुआ।"

बड़ी मामी बोलीं, "जब उस लायक तकदीर ही नहीं है तो कहाँसे हो !"

भानजेका भोजन समुचित रीतिसे सम्पन्न हुआ। हाथ मुँह धोकर चौकेके सामने खड़ा होगया। गँझलीसे कहा, "जूठे मुँह था, इससे पैलगी न कर सका था। पालागी।"

"जीओ भैया। सुखसे रहो। कमाओ धमाओ।"

बाहर चारपाई पर आ लेटा। मामियाँ खाने बैठीं अनुमान लगाया। नोरा ओसारेमें बैठी थी। हाथमें पंखा था। या तो उसे भेजा गया था पंखा हाँकनेको या, वह रूठकर बैठी थी—सोचा।

संकोचसे कुछ निश्चित न समझ चुप रहा। पाँच मिनट बाद साहस कर कहा, "जारी रे नोरा, खाले। कब तक बैठी रहेगी !"

"आज ना खाऊँगी।"

एक मिनट की चुप्पी। फिर कहा, "जा, खाना छोड़नेसे क्या लाभ ! खाया पिया कर।"

वह चुप बैठी रही फिर बाहर को चल दी। सोचा कि इसके अंदर वह सोता ही नहीं है कि जो चारों ओर हरियाली कर सके। ऐसी स्त्रियाँ सती तो होती हैं किंतु व्यवहारमें बड़ी रूखी—तनी हुई रहती हैं।

थोड़े समय बाद छोटी मामी आईं। अपने आपसे बोलीं, "बैलको दूसरी तरफ बाँध दूँ। यहाँ मच्छर खा डालेंगे"

गईं। फिर आकर चारपाईके पास खड़ी हो गईं। थोड़ी दूर पर पड़े पंखेको उठा लाईं। हाँकने लगीं। नोराके प्रति सहानुभूति-पूर्ण स्वर में मैंने कहा, "नोराने खाया नहीं।"

"ऐसे ही किया करती है। इत्ती बखतका खाना तो शायद ही कभी खाती है।...देही सुखा डाल रही है यह लड़की। पता नहीं क्या सूझा है! गुस्सा तो इसकी नाक पर धरा रहता है। हरदम तपी रहती है। इसे क्या हो गया है, समझमें ही नहीं आता। बचपनमें ऐसी नहीं थी। बड़ी सीधी—दँपोडर थी। बड़ी जल्दी बातोंमें आ जाने वाली। और अब मजाल है जो कोई अपना रत्ती भर काम इससे करवाय ले।...उस पर तुर्रा यह कि "मैं नैहरमें ही रह कर कमा धमा लूँगी"। जाने यहाँ कहाँका खजाना गड़ा रखा है कि सब बैठ कर खायँगे। हम तीन राँड़ें वैसे ही बैठ कर घरको मनहूस किए रहती हैं। यह एक और रहेंगी तो क्या होगा कैसे चलेगा? जिन्दगी भर बैठा कर कौन खिलायेगा? खाने कपड़ेका इंतिजाम हो गया था वहींसे, पर ये भाग आईं।... और भइया, बिना बातके ही। बस इतना भर हुआ था कि इसने तिलक वाला थाल देख लिया एक दिन घरमें। पूछा कि यह नया थाल कहाँसे आया? पहिले तो नहीं था। किसी ने कह दिया कि उसी तिलकमें चढ़ा था। बस सुनते ही तो इसका दिमाग बिगड़ा। और यह यहाँ हाजिर।"

तिलककी बात नहीं समझमें आई। पूछा, "मामी, तिलक कैसी?"

"भइया, वे लोग दूसरा ब्याह ठीक कर रहे थे। उसीकी तिलक चढ़ी थी। इसको तो यहाँ कर दिया था और दक्खिनसे—सुल्तापुरसे कोई टिप्पस भिड़ा कर तिलक चढ़वा लिया था। पर तिलक चढ़ानेके बाद लड़की वालोंको गाँवके ही किसी दुश्मनने बताय दिया कि लड़का तो ब्याहा है। तब वे लोग पंच बटोर कर नगदी तो वापस करा ले गये पर थाल पड़ा रह गया। उसीके बारेमें किसीने इसे बताया तो इसका दिमाग ही बिगड़ गया। अब बताओ भइया, यह भी कोई बात हुई कि बिना बातके भाग आया करे!"

मनमें शंका उठी कि इन लोगोंका छोड़नेका कारण केवल इसका झगड़ालू होना ही नहीं है। शायद संतान न होना भी हो। कहा, "कोई बाल बच्चा नहीं हो रहा है, इसीके लिए इसको छोड़ दे रहे हैं?"

पंखा हाँकना रोक मामी धीरे-धीरे फुसफुसाती सी बोलीं, "जब सात सालसे इसका उनका सम्बन्ध ही नहीं है तो बिना बिया पानीके फसल कैसे अगोरी जाय? आज सात सालसे ऐसी ही देही जराय रही है यह।"

सात सालसे कोई सम्बन्ध नहीं! पूछा, "आखिर काहे मामी! इसके सुभावके ही कारण!"

"कौन जाने भइया!..." फिर मिनट भरको चुप रह पंखा हाँकती हुई बोलीं मामी, "तुम घरके हो भइया, छिपानेसे लाभ क्या! दमाद कहते हैं कि मैं अपनी महतारी को कैसे रखूँगा!

वह लड़का इसके ससुरका था। इसीसे अपना आदमी बेगाना हो गया। बिलकुल छोड़ दिया। कोई मतलब नहीं।"

ससुरके अपनी बहूको फँसा लेने वाली बात अब किसी झटकेसे नहीं लगती। इस तरहकी घटनाएँ सुनते-सुनते अब मन इतना आदी हो गया है कि यह सब दिन रातके आने जानेके समान लगता है। चुप हो रहा। मामी भी चुप रहीं। मिनट बाद बोलीं, "इसीके अकिल नहीं थी, नहीं तो यह कौन सी नई बात हो गई! जाने कितने भरे हैं दुनियामें। पर सब चालाकीसे पार कर ले जाते हैं। यह बगोमा थी—सीधी। और अब तो बिना बात, पेड़ पालव तकसे झगड़ती है। का किया जाय! कुछ सूझता नाहीं। अभी तो सारी जिन्निगी पड़ी है पार करनेके लिए। उसकी तो उसकी मेरी अपनी जिनिगी ही कौन कम है। तुम्हारे मामाको मरे अभी हुए ही कै साल? जानें राम कैसे पार होगा! ···रात दिन इसी गिरिस्तीमें मरती खपती हूँ। मन अटकाये रहती हूँ कि पुरानी बातोंका ख्याल ना आये, पर पापी मन कब मानता है!···"

इधर मामीकी बात जरा ऊपरसे ही सुन रहा था। मनमें एक ही बात चक्कर काट रही थी—'वह लड़का इसके ससुरका था।' इधर फिर एक बात आके लगी—'पर पापी मन कब मानता है!'...। कहा, "क्या कहा मामी?"

"कुछ नहीं भइया। चलूँ जरा अगवारा पिछवारा ताक आऊँ, फिर सोऊँ। रात बेर भई।"

मामी गईं। मुझे लगा कि नोरा घरमें नहीं गई है। बाहर

कहीं गई थी, अभी तक नहीं लौटी। मन शङ्कालु हो उठा। फिर अपने ही ऊपर ग्लानि हुई कि पापी मन कैसा बुरा है। सदैव गलत ही सोचता है। वह तो तप रही है आज सात बरसोंसे, और मेरे मनमें इतनी बुराई भरी है। पड़ा रहा, जाने कब आँख लग गई।

आधी रात बीते, घने अँधियारेमें लगा कि जैसे किसीने मेरे ऊपरसे कुछ खिसका दिया हो। चौंक गया, "कौन है ?"

"मैं हूँ, भइया।" कम्पित स्वर था छोटी मामीका, "... आई थी पंखा लेने। देखा, तुम सो रहे हो। सोचा कि थोड़ा और झल दूँ तो गहरी नींदमें सो जाओ।"

खड़ी थीं पंखा लिए। हाँकने लगीं। मैंने कहा, "जाओ मामी सो रहो। कब तक हाँकोगी ?"

"बस थोड़ा सा।...मैं तो धीरेसे पंखा उठा रही थी तुम्हारे ऊपरसे। हाथसे दबा था। मैं नहीं जानती थी कि कच्ची नींद है।"

ऊपर आकाशके तारे काफी चटख, चमक रहे थे। हवा बंद थी। बड़ी उमस सी हो रही थी। पंखा झला जाना अच्छा लग रहा था। हवा लगती थी। दोनों चुप रहे कुछ देर। बोलीं फिर, "ब्याह कब तक कर रहे हो ?"

मैं 'हुँह' की हँसी हँसकर रह गया। मनमें, मामीका इस वक्त आकर पंखा हाँकना बड़ा अजीब सा लग रहा था।

"भइया, तुम्हें अकेले डर नहीं लगता यहाँ ?"

"मैं आधी-आधी रात चक्कर काटनेवाला। डर काहेका ?"

"तुम्हारे बड़े भइया आये थे। यहाँ अकेले सोएँ ही ना।

कहें कि मामी मुझे डर लगता है। अब मैं बड़े पशोपेशमें पड़ी। तुम्हारी और दोनों मामी यहाँ थीं नहीं। इन्हें घरमें कैसे सुलाती। मानती हूँ कि अपना भानजा ही है, फिर भी लोक मरजाद भी तो है। अभी कोई रातमें गाँवका आता कि चलें पाहुनसे मिल आएँ तो उन्हें यहाँ ना पाकर क्या सोचता भला! बताओ भइया ?...भइया, किसीसे कहना मत यह सब।"

"नहीं मामी, काहेको कहूँगा!"

कुछ चुप रह बोलीं, "उसी दिनसे बड़े भइया नाराज हैं। यहाँ आना ही छोड़ दिया उन्होंने उसी बातसे।...हाथ जोड़ूँ भइया, किसीसे कहना ना यह सब। बड़े भइयासे भी मत बताना। हाँ, यह कह देना उनसे कि छोटी मामी हाथ जोड़ कहती थीं कि भइया आते क्यों नहीं।"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ। कहा, "अच्छा।"

मामी बैठ गईं। पंखा हाँकती रहीं। बोलीं, "तुम सब लोगों की इतनी मोह लगती थी कि क्या बताऊँ। और किसीको देखा नहीं। बड़े भइया ही आते जाते थे। इससे उन्हींको जानती थी। तुमलोग कभी आते ही नहीं। कभी कभी आ जाया करो, मेरे भइया। तुम लोगोंके आ जानेसे मन दूसरी तरहसे हो जाता है। और हमारे कौन हितू नात बैठा है!...भइयाका रास्ता देख रही हूँ फागुनसे ही। पहले, महीनेमें एक चक्कर कर जाते थे। अब चार महीने होनेको आये, उनका पता ही नहीं है।...उन्हें जरूरसे भेज देना मेरे भइया। मेरा मन काँपता है कि कोई मुझसे नाराज रहे।..."

मामीके बोलनेके ढंगसे लगा कि जैसे अपने आप से बोले जा रही हों—"···ज्यादा मोह लगाना भी ठीक नहीं होता है। पर क्या करूँ तकदीर को ? सुभाव दूसरी तरह का पाया। पापी मन बसमें ही नहीं रहता। इसी गिरस्तीमें रोज मरती खपती हूँ। जानती हूँ कि इससे क्या लेना देना है। फिर भी मन नहीं रुकता।···कबीर स्वामी बोले हैं—

**रहना नहिं देस बेगाना है**
**यह संसार झाड़ अरु झाँखर, आग लगे जरि जाना है**

पर चेत ही नहीं पाती।···"

अकस्मात् मनमें एक कौतुक जागा। शायद खेल करनेके लिए, शायद दुर्बलता वश। कहा, "मामी, मुझे बुखार है क्या ?"

वे बोलीं, "बुखार ना होगा। गर्मीमें देही तप रही होगी।"

"जरा देखो तो मामी।" मैंने हाथ बढ़ा दिया।

आधे मिनट तक वे चुपचाप पंखा झलती रहीं तब मैंने कहा, "जाने दो मामी। मुझे बुखार ना होगा।"

"बुरा मान गये भइया ! देखे लेती हूँ।···पर मन यों ही संकोचमें पड़ जाता है।"

उन्होंने धीरेसे हाथ की कलाई पर हाथ रखा। पर यह तो फूआ या मौसीके हाथ पकड़ने जैसा, बुखार देखने जैसा स्पर्श न था। हाथ रखा तो फिर रखे ही रह गईं। वैसे ही निस्पंद। जाने क्या सूझा मुझे कि उसी जैसे तरीकेसे मैंने उनके हाथ पर हाथ रख दिया। उन्होंने कोई विरोध ना किया। वे बोलीं,

"भइया, मन बड़ा मैला होता है। जल्दी ही बिगड़ जाता है। इसे सम्हाले रहो तो सँभला रहता है नहीं तो भागता है।...जै दिन रहना है यहाँ, सदगुरुमें मन लगाना चाहिये। वही पार करेंगे—

**बिन सतगुरु अपनों नहिं कोई, जो यह राह बतावै।**
**कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न पीतम पावै॥**

वही प्रभु किरपानाथ ही पार करेंगे मेरी नैया को।..."

मेरा खेल बढ़ता गया। हाथका दबाव बढ़ता गया। स्थिति ऐसी आ गई कि मामीने दूसरा हाथ भी हाथके ऊपर ला रखा। कुछ अच्छा लगा, कुछ आश्चर्यजनक। उत्तेजक भी। लगा कि जैसे मामी कुछ आगेको झुकी आ रही हैं।

हम दोनों ही चुप थे—लगभग दो मिनट तक।

अकस्मात् मामीने एक झटकेसे हाथ हटा लिये। खड़ी हो गईं। बोलीं, "चलूँ भइया। कोई देखे तो क्या सोचेगा!"

मैं चुप रहा। वे बोलीं, "कबीर साहब कहे हैं—

**मन तोहि नाच नचावै माया**

माया बड़ी बुरी है। स्त्रीकी देहीमें मायाका वास होता है। इससे बचना चाहिये भइया।"

"जाओ सोओ मामी।"

उन्होंने पंखा उठा लिया। हाँकती हुई बोलीं, "जाऊँगी ही भइया। ऐसी कहाँ भाग कि पंखा ही हाँकती रह जाऊँ!

एक मिनट तक चुप चुप हाँकती रहीं। फिर बोलीं, "अबकी गये फिर कब आओगे भइया!"

"कौन जाने मामी।"

वे फिर चुप हो गईं। जरा देर बाद बोलीं, "बुरा मान गये भइया ? हमें भुला दोगे ? हमारा अपराध नहीं है। पर यह मन बाँध कर रखना चाहिये।···"

मैं चुप रहा। आधे मिनट रुक बोलीं "बिना ढालके नहीं लड़ा जाता भइया।···तुम्हारे मामा हैं नहीं।···हम तो बंजर परती हो गई हैं। हमारे साथ बेवहार किये का मिलेगा ! प्रेम वहाँ लगाना चाहिए जहाँ बिया बिसार उपजे।···हम तो बाँझ हैं।···मनको दबा कर रखती हैं। बस यही गिरस्ती है हमारे खपनेके लिए।···"

कुछ देरको सन्नाटा रहा। फिर मैंने करवट बदल ली। कहा, "जाओ मामी, अब सोओ।"

गर्मी बहुत थी, पर मामीके हाँकनेसे हवा लगती थी। चुप-चाप पड़ा रहा। कुछ क्षणों बाद बोलीं, "फिर जरूरसे आना भइया।"

मैं चुप पड़ा रहा। हवा लगती रही। पता नहीं चला कब आँख लगी।

सुबह उठा तो ऐसा लगा कि जैसे रातमें कोई सिनेमा देखा रहा हो। निवृत्त हो, झोला आदि ठीक करने लगा। बड़ी मामी आईं। प्रश्न सूचक भावसे मेरी ओर ताका।

"अब जाऊँगा मामी।"

मामी हक्का बक्का हो गईं। तब उन्हें बहुत तरीकेसे समझाया। फिर फिर आनेके वायदे किये तब जाकर वह समझ पाईं। उनके

मान जाने और मोर्चे पार करना भी आसान हो गया। सबसे पैलगी प्रणाम कर चला। बड़ी मामी सिवान तक छोड़ने आईं। नोरा और मँझली मामीका पता न था। छोटी मामी गोबर उठा रही थीं। बड़े औपचारिक ढंगसे उनसे अभिवादन हुआ।

जब बड़ी मामीसे पैलगीकी तो चलते चलते वे बोलीं, "देखना भइया, लड़केको होटलसे निकलवा अच्छी नौकरीमें लगवा देना।"

थोड़ा दाहिने घूम कर नदीकी ओर चला। रास्तेमें आमोंकी एक बगिया पड़ी। मड़इयामें नोरा बैठी मिली। चर्खा कात रही थी। आम भी रखा रही थी। पूछा मैंने, "यहाँ क्या कर रही हो, नोरा ?"

"सूझता नहीं क्या कर रही हूँ ?"

सूझकर तो जान गया था कि कपड़ोंके मामलेमें अपने पैरों पर खड़ी हो रही है, इससे चुप रहा। इधर उधर उसके आमोंको देखता रहा। इच्छा हुई कि यह कुछ बातें करे। पर वह अपने चर्खे में लगी रही। तब खिसिया कर कहा, "अच्छा अब जाता हूँ, नोरा।"

वह बोली, "जाओ चाहे न जाओ, मेरेसे मतलब !"

"फिर आऊँगा कभी।" बेहयाईसे कहा।"

"आओ चाहे निबहुरेकी कुलिया जाओ।"

खिसिया कर चुपचाप आगे बढ़ लिया। घूम कर देखा कि शायद देख रही हो। पर वह अपने चर्खेमें लगी थी।

●●

१४

# तट-कथा

ग्रीष्मकी तपन सही नहीं जाती। नदीमें जहाँ तहाँ भैंसें बैठी मिलती हैं। किनारेके पेड़ोंकी छाँहमें चरवाहे कौड़ी या पाँसड़ खेलते हैं। छोटे बच्चे गोट्टी खेलते हैं।

लगता है कि युगोंसे ऐसा ही चला आया होगा। यही नदी तट होगा, ऐसे ही खेत। चरवाहे और गोरू भी इसी प्रकार। सब समूह इसी प्रकार। फिर भी हर इकाई स्वयंमें सम्पूर्ण होगी। हर इकाईकी अपनी कथा होगी। सम्पूर्ण तट-कथा एक है किंतु इस तट-कथाका प्रत्येक विंदु एक विंदु-कथा कहनेको लालायित होगा। कहाँ तक सुना जाय—कहाँ तक कहा जाय? यह एक चिरंतन कथा है। यह मनकी कथा है। मनकी ही आकांक्षा वासना है। मन दीवारोंमें घिरकर बैठा रहे तो उसकी कथा वहीं तक है। पर इतना संकोची और गंभीर है तो नहीं। यह तो सदैव उड़ता है। इसके पंखोंको कोई बाँध पाया है आज तक?

अगम दुर्गम पथोंका विजेता है यह मन। जानी परिचित राहों को उपेक्षित करने वाला है यह मन।

**मन तू पार उतरि कहँ जइहौ।**
**आगे पंथी पंथ न कोई, कूच मुकाम न पइहौ।**

सेवारसे ढकी मनोरामाके किनारे-किनारे दस बजे तक चला। तन भी थका, मन भी। एक सद्गृहस्थके घर रुका। गाँवमें बनिये की दूकानसे चावल खरीद लाया। घरसे बटलोई माँग ली। नहाकर अहरा सुलगाया। चावल हो गया। गृहिणीने जब यह जाना कि गाँवके अहीरके यहाँ दही खरीदने जा रहे हैं तो अपने यहाँसे ले आई।

खाकर, बटलोई माँजकर, ओसारेमें लेट रहा।

गाँवके कुछ लड़के पानी माँगनेको आए। कोचड़ बना वे घरके सामने लोटने लगे—

**कारे बदरा पानी दे**
**पानी दे गुड़ धानी दे**
**पानी दे पानी दे**
**बरखा दे चानी दे**
**कारे बदरा पानी दे**

क्या अब भी न इन्द्र भगवान प्रसन्न होंगे!

ऊष्मा सही नहीं जाती। उमसमें प्राण फँसते हैं। पसीनेमें भी नींद आ ही जाती है।

आँख खुली तो कुछ उजले-उजले बादल घिरे थे। छाँह किये थे—घाम न था। पर गर्मी थी। सब लोग रह-रहकर बादलोंकी

ओर देख लेते थे। यक्षने भी इतनी आतुरतासे न देखा रहा होगा।

—"एक लहरा गिर जाता तो तपन मिट जाती।"

—"फिर चाहे तो न ही बरसता।"

—"आम-जामुन पानी पाते ही मिठाय जाते।"

—"पसु प्रानी सीतल हुइ जाते।"

पानी पानी पानी।

बरखा बरखा बरखा।

फिर आँख लग गई। खुली तो 'टप टप टप' कई बूँदें गिर रही थीं। बड़ी-बड़ी बिड़र बूँदें गिर रही थी टप टप। थोड़ीसी गिरकर रुक गईं।

फिर पाँच मिनट बाद ही टप टपा टप लग गया। पन्द्रह मिनटमें ही पानी ही पानी। बरसना रुका तो पानी सूख चुका था। धरतीकी प्यास चिरंतन है।

ओसारेमें बैठा था। हवाका एक झोंका दक्खिन ओरके खेतोंसे आया तो सुगंधसे मन भर गया। बनतुलसीकी पत्तियोंकी महक। तूतमलंगाकी फुनगियोंकी महक। ऐसी गंध कि बैठा न रहा जाय। इच्छा हो कि पत्तियोंका एक डण्ठल तोड़ लाएँ और हाथमें लिए बैठे रहें। यूक्लिप्टसकी पत्तियोंकी महकसी गंध।

उठकर खेतमें गया। पर वहाँ कहीं बनतुलसी नहीं। पर महक थी। इधर-उधर देखा—ढूँढ़ा खोजा। पर वह कहीं नहीं। महक नाकमें भरी आ रही थी।

गृहस्वामीने पूछा—"क्या ढूँढ़ रहे हैं?"

"यहाँ तूतमलंगा तो है नहीं। यह महक कहाँसे आती है ?

हँसे वे, "बनतुलसी नहीं, यह धरतीकी साँस है। पानी पाकर धरती साँस लेती है तो ऐसी ही गमक देती है।"

धरतीकी सुबास !

सुना था कि धरतीकी सोंधी गंध होती है। आज जाना कि वह क्या होती है।

गंध फूलोंमें होती है, मंजरियोंमें होती है ! मोथे और कचूरे की जड़में भी होती है। पर इन सबकी—हम सबकी जो माँ है उस आद्याकी तुष्टि-निश्वासमें भी गंध होती है। वह गंध है जो इन्द्रियको, मनको खींचती है।

मन देस देस घूमा भटका, पर आज आकर वह सुबास विंदु पाया जहाँ टिका है। असंख्य बूँदें गिरीं, बादलोंने भटकना छोड़ा तब धरतीने सुबास दी।

माँ धरती, तुम्हें असंख्य प्रणाम।

चारपाई पर आ बैठा। जानेकी इच्छा न हुई। लगा कि जसे सब कुछ पा लिया। अब और कहाँ चलूँ। संघर्षके बाद मिलने वाले आशाप्रद फलका जो संतोष होता है वह इन्द्रियको विश्राम देता है। वह विश्वास पाया।

थोड़ी देरमें और बादल घिरे। इस बार गरजे भी—

गड़ ड़ ड़ sss गड़ गड़ गड़ गड़ गड़ ड़ ड़ ड़

जैसे कहीं नगाड़ा बजा हो ताजियोंके उठनेका—

कुड्डुक्कुड्डुक्कड़झँइक्झक्कड़···

सब ओर छाँह घिर आई। हवा बही तेज। और फिर वर्षा

आई। पहले बूँदें छिटकीं। फिर झीनी झीनी बुनिया मेहा बरसे। फिर पानी गिरा। फिर मूसलाधार। सामने पानी ही पानी हो गया। तब फिर बूँदें पड़ने लगीं। बूँद गिरती है तो पानीमें विंदु बनता है। विंदुका वृत्त बनता है। बूँदें गिरती हैं। चूड़ियाँ बनती हैं। कई कई चूड़ियाँ। हर चूड़ी पूरी बन जाती है—सम्पूर्ण वृत्त। एक चूड़ी दूसरीको काटती भी है पर स्वयं पूर्णताको प्राप्त कर और दूसरीको भी पूर्ण हो जानेका मौका देकर। हर विन्दुकी अपनी कथा है। हर कथा स्वयंमें पूर्ण है। फिर भी एक कथा है तटकी—तट-कथा।

शाम तक बारिश रुकी नहीं। अच्छा लगा।

शामको कहाँ जाऊँ? फिर अहरा सुलगाया। खिचड़ी बनी। खा कर ओसारेमें सोया। ठण्डी हवा बही। रात भर पानी बरसा। सोतेमें, अँधेरेमें बरसते पानी और चमकती बिजलीका पता चलता रहा।

सुबह उठा तो चारों ओर पानी ही पानी था। बरसना रुक गया था। आकाश निर्मल हो गया था। चारों ओर हर चीज धुली हुई थी। बचपनमें हृदयका आनंद कागजकी नौकामें लहराता था। अब इस उम्रमें बिना साथीके क्या नाव चलाऊँ? कागजकी नौका तो चलती भी है पर मेरी नाव क्या चल पाएगी?

झोला छाता लिया।

अभी तक यात्रा थी। अब समाप्त। अब फिर घरको लौट चलना है। निकट ही होगा। इधर-उधर कहाँ जाऊँगा!

यहींसे लौट चलता हूँ। ●●

१५

# समाप्तिकी

नदी तीरे खड़ा हो गया। इतनी वर्षामें ही पानी कुछ बढ़ गया था। पर कुछ ही।

सोचा था कि इन नदी माँके साथ साथ इनके मुहाने तक चलूँगा। पर ऐसा न हो पाया। न हो पाएगा ही। अच्छा ही है।

ये जो युगोंसे श्रावन करती आई हैं, विंदुसे विंदुको मिलाती आई हैं, उन्हें नाप पाना मेरे जैसे विंदुके शतांशके लिए सम्भव है क्या? यदि जड़ दूरीको नाप भी लेता तो क्या वह उन्हें नापना हो जाता?

माँकी गरिमाको कौन नाप पाया है!

प्रणाम है तुम्हारी इस गरिमाको। प्रणाम है तुम्हें। प्रणाम है तुम्हारी कथाको।

अंतरसे प्रणाम किया। पर अहंकारी देह झुक न पाई नतशिर होकर माँके सम्मुख।

लौट पड़ा।

यहाँसे बाएँ आगे बढ़ता जाऊँगा तो दोपहरीके पूर्व ही अपने गाँव पहुँच जाऊँगा।

ताल तलैयोंमें पानी भर गया। खेतोंमें भी। मेढकोंने सुर मिलाये—

मेक मेंको, मेक मेंको
दुआर छेंको, मेक मेंको
मेंको मेंको मेंको मेंको

धुले आकाशमें जो सूर्य उदय होता है वह कितना नेत्र-रंजक। ग्रीष्मकी धूल बैठ गई। वातावरण निर्मल हो गया।

खेतोंमें लोग आ गये। किसानोंने हल बैल सँभाले। स्त्रियाँ घास चिखुरने लगीं। बच्चे कौतुक देखने लगे। सबकी देह कीचड़ हो गई है फिर भी सब लगे हैं। यह वर्षा मंगल है। यह है श्रमका आमंत्रण।

मेंड़ मेंड़ चल रहा था कि रपट कर गिर गया। कपड़ोंमें कीचड़ पुत गई। पर खिसियईकी हँसी न हँसा। अच्छा ही लगा। जहाँ इतने लोग वर्षा मंगल कर रहे हैं, मैं ही कैसे वंचित रहूँ! माँ धरतीके चंदनका लेप मिला—इस प्रसादके लिए इस वेलाको प्रणाम है। प्रणाम है!!